

लोकमान्य श्री बाल गंगाधर तिलक

Bal Gangadhar Tilak

प्रस्तावना



लोकमान्य तिलक का 'ओरायन्' (मृगशीर्ष) अर्थात् वेद के समय का विचार, सन १८९३ ई० में छापा गया था। किन्तु इस उपयोगी पुस्तक का अनुवाद हिन्दी में अब तक न होने की त्रुटि को देखकर हमने यह भावानुवाद मराठी के 'वेदकाल-निर्णय' के आधार पर करने का साहस किया है।

इस ग्रन्थ के छपने बाद इतने समय में और भी कई नये विचार आविष्कृत हुए हैं उन सबको हम-इस पुस्तक का समादर हिन्दी-भाषा भाषियों में कैसा होता है यह देखकर प्रस्तुत करेंगे। और लोकमान्य तिलक के 'ओरायन्' तथा 'आर्क्टिक् होम आफ दी वेदाज्' का पूरा अनुवाद कर प्रकाशित करेंगे।

जालंधर के पं० रामचन्द्र एम० ए० प्रोफेसर डी० ए० वी० कॉलेज ने लोकमान्य के पुत्रों से इसका अनुवाद करने की आज्ञा प्राप्त कर हमको इस कार्य में हमारे अनन्य,-हृदय पं० परशुराम शास्त्री के द्वारा प्रवृत्त किया, इसका इन दोनों महाशयों को धन्यवाद है।

अनुवादक,



डा० पं० भोलानाथजी एल० एम० एस०
जयपुर

समर्पण

यह पुस्तक

डा. भोलानाथजी एल० एम० एस० जो जयपुर की

जनता के एक-मात्र स्नेहास्पद हैं और जिनने अपनी

सहृदयता, सरलता और श्रद्धा-भक्ति आदि

अनुपम गुणों के द्वारा सर्व-साधारण

पर प्रभाव उत्पन्न किया है;

उनके प्रेम में विवश

होकर यह उनके

कर-कमलों में

भेंट है—

अनुवादक

वैदिक ग्रन्थमाला।

इस वैदिक ग्रन्थमाला में इसी प्रकार के वेद संबंधी विशिष्ट ग्रन्थ क्रम से प्रकाशित होते रहेंगे।

नियम—

(१) वेद के ग्रन्थों के मूल, अनुवाद, समालोचनायें, तथा इतिहास, भूगोल, ज्योतिष, विज्ञान आदि जो वैदिक ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं उनको क्रम-बद्ध करके पुस्तक रूप में प्रकाशित किया जायगा।

(२) जो विद्वान् वेद सम्बन्धी कोई अपूर्व पुस्तक लिखेंगे वह भी इस में प्रकाशित की जावेगी।

(३) यूरप आदि देशों के विद्वानों ने वेद सम्बन्धी जो ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं उनके आधार पर समालोचनात्मक निबन्ध भी इस माला में प्रकाशित होंगे।

(४) वेदों का महत्त्व, सुरक्षित रखना इस माला का मुख्य उद्देश रहेगा।

(५) वेद सम्बन्धी शंकाओं का समाधान भी इस माला में किया जायगा।

स्थायी ग्राहकों की संख्या ३०० तीन सौ हो जाने पर 'वेदकाल निर्णय' की 'समालोचना' इस नाम का दूसरा ग्रन्थ जो अब लिखा जा रहा है, प्रकाशित किया जायगा।

निवेदक—
पं० केदारनाथ साहित्य-भूषण
मालिक पण्डित प्रेस,
संघी जी का रास्ता
जयपुर सिटी (राजपूताना)

वेद-काल निर्णय का शुद्धि-पत्र

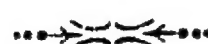
पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
१	१६	बातों को	बातों की
१	२०	इस का	इस की
२	१	इन	इस
२	२२ (तृ)	लिखा था	लिखी थी
६	२	है	हैं
७	१९	आरम्भ	आरम्भ आदि
८	१२	बरोबर	बराबर
९	१२	सौ वर्ष	सौर वर्ष
११	१	ऋतु चन्द्र	ऋतुओं का चन्द्र
१५	३	वर्ष को	वर्ष का
२२	२४	उठे	उठै
२६	२०	संपात के	संपात का
२९	१४	वह	यह
२९	१५	छोड़ देना	छोड़ देनी
४३	२	न	नहीं
४९	१६	देवीं	दैवीं
५०	६	देवताओं की	देवताओं से
५२	३	नमूचि	नमुचि
५६	१	अग्न	अग्नि
५८	२३	ग्रन्थों में	ग्रन्थों में भी
६३	४	तारगणक	तारागण के

६४	२१	अगमन	आगमन
६५	२२	जमन	जर्मन
६६	१	दन्त	दन्त कथाओं में
६७	९	ब	व
७७	२४ (टि०	ब्राह्मण	ब्रह्मण
७८	१	दन	प्रति दिन
७९	२० (टि०)	तिष्यं	तष्यं
७८	१२,१३	पात्रों को	पात्रों के
८२	१२,१३	फाल्गुन ही	फाल्गुन की
८२	२०	विषयों मे	विषय में
८३	२	दोनों की इन दोनों	इन दोनों ही का
८३	८	थह है	यह है
८३	१७	लमी कि	लगी कि
८५	६	विपुवद्वृत्त	विषुवद्वृत्त
८५	१०	मिलचाता है	मिलजाता है
८७	१४	जोडिय	जोडियां
८८	९	उसको चक	उसका वाचक
८८	१७	लोगों क	लोगों की
८८	१९	दिति	अदिति
९४	२०	प्रौष्टपधां	प्रौष्ठपद्यां
९४	२३	टाकाकारों ने	टीकाकारों
९५	१ (टि०)	होने चाहिये	होनी चाहिये
१००	१२	है उसके साथ	हैं उनके साथ

वेदकाल निर्णय की

विषय-सूची





भूमिका ।

मासानां मार्गशीर्षोऽहम् ॥

भगवद्गीता अ० १० श्लोक ३५ ॥

मार्गशीर्ष का महीना, जिस प्रकार कि वर्तमान काल में चैत्र का महीना वर्षारम्भ का है वैदिक काल में वर्ष के आरम्भ का महीना था और उसका नाम आग्रहायण था। इस बात के प्रमाणों का संग्रह कर लोकमान्य तिलक ने इस पुस्तक में सिद्ध किया है कि उस समय आकाश का वह स्थान कि जहाँ आज सूर्य २१ मार्च को दीखता है और पृथ्वी के बहुत भाग में रात और दिन बराबर बारह घण्टों के होते हैं मृगशीर्ष नक्षत्र पर था। वर्ष में आजकल रातदिन दो बार बराबर होते हैं। एक २१ मार्च को और दूसरे २२ सितम्बर को। २१ मार्च के उस स्थान को कि जहाँ सूर्य उस दिन दीखता है वर्तमान काल का वसन्त सम्पात और २२ सितम्बर को जहाँ सूर्य दीखता है उस स्थान को शरत्सम्पात कहा जाता है, क्योंकि वसन्त ऋतु का प्रारम्भ २१ मार्च से और शरद ऋतु का प्रारम्भ २२ सितम्बर से होता है। किन्तु ये दोनों सम्पात स्थिर नहीं, अर्थात् आकाश के जो तारे आज इन दोनों सम्पात स्थानों में हैं सर्वदा वे ही तारे सम्पात स्थानों पर नहीं रहते। सम्पातों में गति होने के कारण कभी कोई तारा सम्पात पर रहता है और कभी कोई। यह गति

यद्यपि इतनी अल्प है कि वर्ष दो वर्ष में तो क्या हजार पांच सौ वर्ष के बाद कुछ अन्तर प्रतीत होता है किन्तु बहुत समय के बाद यह प्रत्यक्ष दीख पड़ता है कि मौसम में कितना अन्तर पड़ गया। अस्तु! अब हम यहाँ इस विषय को विषद रूप से लिखते हैं कि जिससे 'वेद काल निर्णय' के समझने में पाठकों को सुविधा हो।

अयनांश (Precession)

पृथ्वी के ऊपर वह पूर्व पश्चिम रेखा जिस पर सूर्य के आने से दिन और रात बराबर होते हैं उसे भूमध्य रेखा Equator कहते हैं। यह रेखा पृथ्वी को दो सम भागों में विभक्त करती है। उत्तरीय भाग का नाम उत्तरीय गोलार्द्ध और दक्षिणीय भाग का नाम दक्षिणीय गोलार्द्ध कहाता है। भूमध्य रेखा जिस धरातल में रहती है वह धरातल (Plane) पृथ्वी के अक्ष के साथ समकोण बनाता है और अक्ष को दो सम भागों में विभक्त करता है। अक्ष का वह सिरा जो उत्तरीय गोलार्द्ध में पृथ्वी के पृष्ठ पर मिलता है, उत्तरीय ध्रुव कहलाता है और जो सिरा दक्षिणीय गोलार्द्ध में पृथ्वी के पृष्ठ पर मिलता है दक्षिणीय ध्रुव कहलाता है। उत्तरीय ध्रुव और दक्षिणीय ध्रुव बिन्दु भूमध्य रेखा के किसी भी बिन्दु से समान दूरी पर होते हैं। एक साथ दोनों ध्रुवों पर से होकर गुजरते हुए और भूमध्य रेखा के साथ समकोण बनाते हुए वृत्त देशान्तर वृत्त या देशान्तर रेखायें (Maridians or Longitudes) कहलाती हैं। भूमध्य रेखा के समानान्तर वृत्त वा रेखायें अक्षांश

रेखायें (Latitudes) कहलाती हैं। भूमध्य रेखा पर स्थित प्रदेश निरक्ष देश कहलाते हैं। भूमध्यरेखा से ध्रुव तक देशान्तर रेखायें ९० अंशों में विभक्त मानी गई हैं। आजकल ग्रीन्विच स्थान पर से गुजरती हुई देशान्तर रेखा (दक्षिणोत्तर वायाम्योत्तर रेखा) से पूर्व को या पश्चिम को देशान्तर गणना की जाती है। प्राचीन काल में उज्जैन स्थान पर से गुजरती हुई देशान्तर रेखा गणना के लिए स्थिर की हुई थी। उज्जैनस्थ देशान्तर रेखा भूमध्य रेखा को जिस बिन्दु पर काटती है उस बिन्दु को ज्योतिः शास्त्र में लंका नाम दिया है। लंका स्थान का अक्षांश और देशान्तर शून्य माना जाता था। लंका से १८० अंश पूर्व की ओर और १८० अंश पश्चिम की ओर इस प्रकार ३६० तुल्य भागों में भूमध्य रेखा विभक्त की जाती थी। उज्जैनस्थ याम्योत्तर रेखा लंका स्थान से ९० अंशों में उत्तर की ओर और ९० अंशों में दक्षिण की ओर विभक्त की जाती थी। आजकल यह उपर्युक्त विभाग उज्जैन के स्थान में ग्रीन्विच को मानकर किया जाता है। भूमध्य रेखा जिस धरातल में है उसी धरातल में पृथ्वी सूर्य के गिर्द नहीं घूमती, यदि उसी धरातल में पृथ्वी सूर्य के गिर्द घूमे तो दिन और रात सर्वदा तुल्य रहें और पृथ्वी पर ऋतुओं का परिवर्तन भी न हो। ऋतुओं के क्रमिक परिवर्तन से प्रकट है कि पृथ्वी सूर्य के गिर्द भी घूमती है और उस धरातल में भी नहीं घूमती जिसमें भूमध्य रेखा है पृथ्वी जिस धरातल में सूर्य के गिर्द घूमती है उस धरातल को भूकक्षावृत्त (Ecliptic) कहते हैं। किसी स्थिर तारे का उदय और अस्त स्थान पूर्व तथा पश्चिम में स्थिर रहता है। क्षितिज पर सूर्य के उदय और अस्त का

स्थान प्रतिदिन बदलता रहता है। एक ही याम्योत्तर रेखा पर मध्यान्ह में सूर्य आकाश में कभी बहुत ऊँचा रहता है और कभी नीचे हो जाता है। यह परिवर्तन भी स्पष्ट है कि पृथ्वी के सूर्य के गिर्द कक्षावृत्त में घूमने से होता है।

जिस कक्षावृत्त में पृथ्वी सूर्य के गिर्द घूमती है वह कक्षावृत्त का धरातल भूमध्य रेखा के धरातल से उत्तर की ओर कुछ हटा हुआ है। कक्षावृत्त के मार्ग को निर्देश करने के लिए आकाश में कुछ नक्षत्रों को चिन्ह रूप से स्वीकार किया गया है। जैसे देहरा-दून से कलकत्ते तक जानेवाली रेलगाड़ी के मार्ग को सूचित करने के लिए हरिद्वार, लक्सर, नजीबाबाद, नगीना, मुरादाबाद, बरेली, लखनऊ, बनारस, गया, धनबाद आदि स्थानों का निर्देश किया जाता है, जबकि ये स्थान सर्वदा रेल मार्ग के साथ नहीं होते प्रत्युत दांई ओर या बांई ओर कई कोस तक भी दूर रहते हैं वैसे ही कक्षा मार्ग जिन नक्षत्रों से सूचित किया जाता है वे नक्षत्र कक्षा पर ही नहीं हैं प्रत्युत दांई ओर या बांई ओर हटे हुए हैं। कक्षावृत्त को १२ तुल्य भागों में बाँट दिया है। एक एक भाग को राशि कहते हैं। ये राशियाँ ३० अंशों में विभक्त हैं। किसी समय ये राशिया जिस जिस नाम से पुकारी जाती हैं लगभग उसी उसी नाम वाले नक्षत्र के संमुख थीं, परन्तु उस समय के पश्चात् धीरे धीरे इनका स्थान बदल कर पीछे हट गया है। कक्षा वृत्त पर घूमती हुई पृथ्वी राशि स्थान पर प्रथम आजाती है और उस नक्षत्र के सामने पीछे आती है जिस नक्षत्र के नाम से राशि का नाम पड़ चुका है। कक्षावृत्त (क्रान्ति वृत्त) का धरातल और भूमध्य रेखा का धरातल ये दोनों आपस में एक रेखा पर काटते हैं। यह रेखा

पृथ्वी के केन्द्र में से गुजरती है। जब सूर्य, सूर्य के गिर्द घूमती हुई पृथ्वी के सन्मुख, भूमध्यरेखा (विषुवद्वृत्त) पर आ जाता है तब दिन और रात बराबर होते हैं। विषुवद्वृत्त क्रान्तिवृत्त का ऐसे दो बिन्दुओं पर ही काटता है जिन पर आई हुई पृथ्वी पर दिन और रात बराबर होते हैं। ये दोनों बिन्दु सम्पात बिन्दु कहलाते हैं। एक बिन्दु का नाम वसन्त सम्पात (Vernal equinox) और दूसरे बिन्दु का नाम शरत्सम्पात (Autamnal equinox) है। वसन्त सम्पात से मेष राशि का आरम्भ होता है। मेषराशि के इस प्रथम बिन्दु को First point of the aries कहते हैं। मेष नक्षत्र मण्डल रेवती नक्षत्र की समाप्ति पर अश्विनी नक्षत्र से आरम्भ होता है। रेवती नक्षत्र की समाप्ति से मेष राशि का प्रथम बिन्दु जितना पीछे रहता है उतने अंशों को अयनांश (Precession) कहते हैं।

जिस प्रकार भूमि पर विषुवद्वृत्त के प्रत्येक बिन्दु से समान दूरी पर दो ध्रुवीय बिन्दु होते हैं उसी प्रकार कक्षावृत्त के प्रत्येक बिन्दु से समान दूरी पर आकाश में दो बिन्दु होते हैं, इन्हें आकाशीय ध्रुव बिन्दु (Celestial poles) या कदम्ब कहते हैं।

भूमध्य रेखा को चारों ओर आकाश में बढ़ाया जाय तो इसे आकाशीय मध्यरेखा या आकाशीय विषुवद्वृत्त (Celestial equator) कहते हैं। पृथिवी के अक्ष को आकाश में दूर तक बढ़ाया जाय तो यह दोनों ओर उत्तर तथा दक्षिण में आकाशीय ध्रुवों (Celestial poles) पर जाकर मिलेगा। इसी प्रकार भूमि पर जितनी याम्योत्तर रेखायें हैं वे भी आकाश में उसी प्रकार बढ़ाई गई आकाशीय उत्तर ध्रुव से आकाशीय दक्षिण ध्रुव तक जावेंगी

यदि किसी तारे का वा आकाशीय बिन्दु का स्थान निश्चित करना हो तो उसके उभय भुज (coordenation) का निर्देश करना पड़ता है। आकाशीय बिन्दु पर से गुज़रते हुए याम्योत्तर वृत्त का वह भाग जो आकाशीय बिन्दु और आकाशीय मध्यरेखा के बीच में है उसका कोणीय माप (Angular measurment) उस आकाशीय बिन्दु की क्रान्ति (Declination) कहलाती है उस क्रान्ति का निर्देश करना पड़ता है। इसी प्रकार विषुवद्वृत और क्रान्ति वृत्त के कटाव बिन्दु अर्थात् मेष के प्रथम बिन्दु(First point of the aries) से उस याम्योत्तर वृत्त की विषुवद्वृत पर जितनी दूरी है वह दूरी भी घड़ी पल विपल में वा घण्टा मिनिट सैकन्ड में निर्देश करनी होती है। वेध के अनुसार किसी स्थान की याम्योत्तर रेखा पर सम्पात बिन्दु की याम्योत्तर रेखा के आने से उस आकाशीय बिन्दु की याम्योत्तर रेखा के आने तक जितना समय लगता है उतने समय की परिभाषा में वह दूरी निर्देश की जाती है। चूंकि एक घण्टा बराबर होता है १५ अंश के अथवा २।। घड़ी के इसलिये उस समय को दूरी को अंशों की दूरी में बदल सकते हैं। इस अंशात्मक दूरी को विषुवांश (Right Assension) कहते हैं। यह अंशात्मक दूरी क्रान्ति वृत्त पर निर्दिष्ट हो सकती है और आकाशीय निर्देश्य स्थान किस राशि पर है यह भी बतलाया जा सकता है। यदि उस राशि नाम वाले नक्षत्र मण्डल के साथ सम्बन्ध दिखलाते हुए उस निर्देश्य आकाशीय बिन्दु का निर्देश करना हो तो विषुवांश में उतनी अंशात्मक दूरी और जोड़नी पड़ती है जितने अंश सम्पात बिन्दु या मेष राशि का आदि बिन्दु पीछे हट गया है। किसी आकाशीय बिन्दु की स्थान

निर्देश मूलक गणना यदि अयनांश (Precession)जोड़ कर की गई है तो उस गणना को सायन गणना कहते हैं और यदि विना जोड़े की गई है तो उसे निरयण गणना कहते हैं ।

किसी आकाशीय बिन्दु का निर्देश केवल क्रान्तिवृत्त के अनुसार भी किया जा सकता है। यदि दोनों कदम्बों और निर्देश्य स्थान पर से होता हुआ तथा क्रान्ति वृत्त को समकोण पर काटता हुआ वृत्त खींचा जावे तो इस वृत्त का वह अंशात्मक भाग जो क्रान्ति वृत्त और उस निर्देश्य स्थान के बीच में है। शर (Latitude) कहलाता है और सम्पात बिन्दु अर्थात् मेष राशि के आदि बिन्दु से उस वृत्त तक जितनी अंशात्मक दूरी है उसे देशान्तर (Latilude) कहते हैं। इस प्रकार अक्षांश और देशान्तर के निर्देश से किसी भी आकाशीय बिन्दु का निर्देश क्रान्ति वृत्त के अनुसार किया जाता है ।

मेष राशि के प्रथम बिन्दु के पीछे सरकने का कारण

१८५० सन् में जनवरी की प्रथम तारीख के दिन ध्रुव तारे के उभयभुज (Co-ordinates) मालूम किये गये तो

	घ०	मि०	सै०	
विषुवकाल	१	५	२३	
क्रान्ति	+ ८८'	३०'	४९"	हुए ।

उसी ध्रुव तारे के उभयभुज ५० वर्ष पश्चात् सन् १९०० की जनवरी के प्रथम दिन में भी लिए गये तो

	घ०	मि०	सै०	
विषुवकाल	१	२३	०	
क्रान्ति	८८'	४६'	५३"	हुए ।

इनमें अन्तर इस प्रकार हुआ

	मि०	सै०
विषुवकाल	१७	३७
क्रान्ति	१६'	४"

विषुवकाल में चौथाई घण्टे से अधिक अन्तर हुआ और क्रान्ति में भी चौथाई अंश से अधिक अन्तर हुआ । क्रान्ति में अधिक अन्तर होने से यह अनुमान होता है कि या तो विषुवद्वृत्त ध्रुव तारे से दूर चला गया है और या ध्रुव तारा ही विषुवद्-वृत्त से दूर चला गया है। परन्तु चूँकि ध्रुव तारे और अन्य तारों के परस्पर सापेक्ष अन्तर में कोई विशेष अन्तर नहीं आया है इससे यही ज्ञात होता है कि ध्रुव तारा विषुवद्वृत्त से दूर नहीं सरका है प्रत्युत विषुवद्वृत्त ही ध्रुव तारे से दूर हट गया है। इसी के साथ यह भी सोचना चाहिए कि विषुवद्वृत्तसे ध्रुव की क्रान्ति सर्वदा ९० अंश की स्थिर रहती है, परन्तु ध्रुव तारे की क्रान्ति ५० वर्षों में कम से कम १६' ४" बढ़ गई है अर्थात् प्रति वर्ष १९."२८ अथवा १९" के लगभग बढ़ रही है। इससे परिणाम निकलता है कि या तो ध्रुव तारा ध्रुव की ओर जा रहा है और या ध्रुव ध्रुव तारे की ओर आरहा है। परन्तु ध्रुव तारे (लघु ऋक्ष नक्षत्र की पुच्छ के अन्तिम तारे) की अपनी वास्तविक वार्षिक गति तारों की सूची के साथ नाविक पंचांग (Nautical Almanac) में .००२" दी गई है और निरीक्षणसे पता लगा है कि १९".२८ के लगभग वार्षिक गति से ध्रुव तारा ध्रुव की ओर जा रहा है। ध्रुव तारे की वास्तविक गति को दृष्टि में रखकर यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि ध्रुव तारे की ओर ध्रुव आ रहा है अर्थात्

ध्रुव और ध्रुव तारे के बीच की दूरी के कम होने में केवल ध्रुव तारे की गति ही कारण नहीं है प्रत्युत उसके साथ ध्रुव की गति विशेष कारण है। चूँकि ध्रुव ध्रुव तारे की ओर आ रहा है और ध्रुव से विषुवद्वृत्त का प्रत्येक बिन्दु समान दूरी पर रहता है अतएव यह भी जान लेना चाहिए कि ध्रुव तारेसे विषुवद्वृत्त दूर हट रहा है। ध्रुव आकाश में वह बिन्दु है जिसको पृथ्वी का अक्ष सर्वदा निर्देश किया करता है। ध्रुव का स्थान बदलने से यह स्पष्ट है कि पृथ्वी के अक्ष का स्थान भी बदल रहा है। विषुवद्वृत्त का प्रत्येक बिन्दु ध्रुव से ९० अंश पर ही रहता है और विषुवद्वृत्त का तल अक्ष के साथ ९० अंश का कोण बनाता है अतः ध्रुव तारे से विषुवद्वृत्त के पीछे हटनेसे यह स्पष्ट है कि अक्ष की दिशा बदलती है। यह दिशा बदलना अक्ष दिशा का विचलन है। अक्ष दिशा विचलन के कारण विषुवद्वृत्त पीछे हट रहा है। विषवद्वृत्त के पीछे हटने के साथ साथ ही क्रान्तिवृत्त और विषवद्वृत्त का सम्पात बिन्दु भी पीछे हट रहा है अयन चलन हो रहा है।

सम्भवतः ४००० वर्ष से अधिक वर्ष व्यतीत हुए हैं जब से प्राचीनतम नक्षत्र मण्डलों का नाम रक्खा गया था। कुछ ज्योतिषियों का मत है कि नाम रखने वाला मनुष्य अरारात (Ararat पर्वतके समीप में ही वर्तमान देश में रहता था। उस समय जबकि नक्षत्र मण्डलों को वर्तमान काल के नाम दिये गये थे, मण्डलों की आकाश में ऐसी स्थिति न थी जैसी उनकी आजकल है, क्योंकि हम जानते हैं कि पृथिवी अपने अक्ष पर घूमने और सूर्य की परिक्रमा करने के अतिरिक्त लट्टू के समान भी चक्कर लगा रही है, परन्तु इतनी आहिस्ता चक्कर लगा रही है कि क्रान्तिवृत्त के

तल के साथ समकोण बनाती हुई रेखा के या कदम्ब के चारों ओर पृथ्वी का अक्ष २५९२० वर्षों में एक पूरा भ्रमण कर लेता है। कदम्ब के चारों ओर घूमता हुआ अक्ष भिन्न भिन्न समय में आकाश में वर्तमान भिन्न भिन्न नक्षत्र मण्डलों के तारों को निर्देश करता है। अक्ष आकाश के जिस बिन्दु को निर्देश करता है उस बिन्दु पर या बिन्दु के पास जो तारा होता है वही तारा ध्रुव तारे के नाम से कहा जाता है। इस प्रकार ४००० वर्ष पहिले पृथ्वी का अक्ष आकाश के जिस बिन्दु को निर्देश करता था उसको आजकल नहीं करता और इसीलिए वे ही नक्षत्र मण्डल आकाश में आज जिस स्थिति में प्रतीत होते हैं ४००० वर्ष पहले उसी स्थिति में प्रतीत नहीं होते थे। उस समय अक्ष (Draco) तक्षक मण्डल के (Thuban) कंस तारे को निर्देश करता था। उस समय Thuben तारा ही ध्रुव तारा था। मिश्र देश के लोग (Egyptions) भी उस समय इसी तारे को ध्रुव तारा मानते थे जिस समय चिप्स का बड़ा पिरामिड (Great pyramid of Cheops)बना था। उसकी रचना करने में इस ध्रुव तारे का बड़ा उपयोग हुआ। इसकी सहायता से पिरामिड की स्थिति दिग्बिन्दुओं Cardinal points की दृष्टि से बिलकुल ठीक हुई है। उस समय ध्रुव तारा, पिरामिड के एक पार्श्व में झुकी हुई एक सुरंग में चमकता था और सम्भवतः दिनको और रात को दोनों समय चमकता देखा जाता था। बड़े पिरामिड में वर्तमान लम्बी सुरंग से उसके बनने का समय जाना जाता है। सुरंग इस प्रकार बनाई गई थी कि उसमें से देखने के समय में वर्तमान ध्रुव तारा दीखा करे। गणना करके पता लगाया गया कि पहले केवल एक

चित्र संख्या १

ध्रुव वा भूअक्ष कदम्ब के चारों ओर घूमता है। जिस तारे के समीप ध्रुव होता है वही तारा ध्रुवतारा कहलाता है। चित्र में एक विभाग १००० वर्ष को बतलाता है।

ऐसा चमकीला तारा है जो इस स्थिति में हो सकता था कि सुरंग में चमकता दीखे। यह तारा तक्षक मण्डल (Dreco) का (Alpha) एल्फा, थूबन (Thuban) नामवाला था, जो २१७० बी० सी० में या विक्रम से २११३ वर्ष पूर्व इस स्थिति में था कि उस सुरङ्ग में से दीख सके। ईसा से पूर्व २१७० बर्ष में सुरङ्ग बनी थी। (चित्र नं० १ देखिये)

इस चित्र में एक वृत्त है जो वर्तमान ध्रुव तारे के समीप से गुजरता है। यह वृत्त पृथ्वी के अक्ष के भ्रमण से उत्पन्न मार्ग को सूचित करता है। अक्ष के भ्रमण की दिशा तीरों से सूचित की गई है। अक्ष का पूरा भ्रमण २५९०० वर्षों में होता है। वृत्त तुल्य भागों में विभक्त है। प्रत्येक भाग १००० वर्षों को सूचित करता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पहले ध्रुव कहाँ था और भविष्यत् में कहां होगा। चित्र से प्रकट है कि ध्रुव का मार्ग थूबन (Thuban) के बहुत समीप से गुजरता है। इससे स्पष्ट होता है कि पृथ्वी का अक्ष किसी समय थूबन को निर्देश करता था, जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि ४००० वर्ष पहले ध्रुव तारा थूबन था आगे यह भी ज्ञात हो जायगा कि २०० वर्ष पश्चात् अक्ष ठीक वर्तमान ध्रुव तारे को निर्देश करेगा, अभी तो ध्रुव तारे की ओर जा ही रहा है। इसी प्रकार लगभग १३००० वर्षों के पश्चात् वीगा (Vega) नाम का चमकीला तारा ध्रुव तारा बनेगा।

इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि अक्ष से निर्दिष्ट ध्रुव कदम्ब के चारों ओर चक्कर लगाता रहता है, अतएव अक्ष की दिशा विचलित होती है। अतएव ध्रुव के पीछे हटने के साथ साथ विषुवद्वृत्त भी पीछे हटता रहता है। विषुवद्वृत्त के पीछे हटने से

विषुवद्वृत्त और क्रांति वृत्त के सम्पात बिन्दु भी पीछे हटते रहते हैं अर्थात् अयन चलन होता रहता है। मेष मण्डल से पीछे जितना अयन (मेष राशि का प्रथम बिन्दु) चला गया होता है वही अयनांश (Precession) कहलाता है। इस प्रकार अयनांश उत्पन्न होता और बढ़ता रहता है ।

अक्ष दिशा विचलन का कारण

अक्ष अर्थात् जिसके गिर्द पृथ्वी दैनिक भ्रमण करती है उसमें बहुत सूक्ष्म परिवर्तन होते रहते हैं। ये भी परिवर्तन अयनांश Precession और अक्ष विचलन nutation के कारण हैं। अपनी नियत दिशा से पृथ्वी के अक्ष को विचलित करने में चन्द्र और सूर्य के आकर्षण बल काम कर रहे हैं, जो बल, पृथ्वी के गोल सम होने से ठीक पृथ्वी के केन्द्र पर नहीं लगते, किन्तु कुछ हट कर लगते हैं। (चित्र नं० २ देखिये)

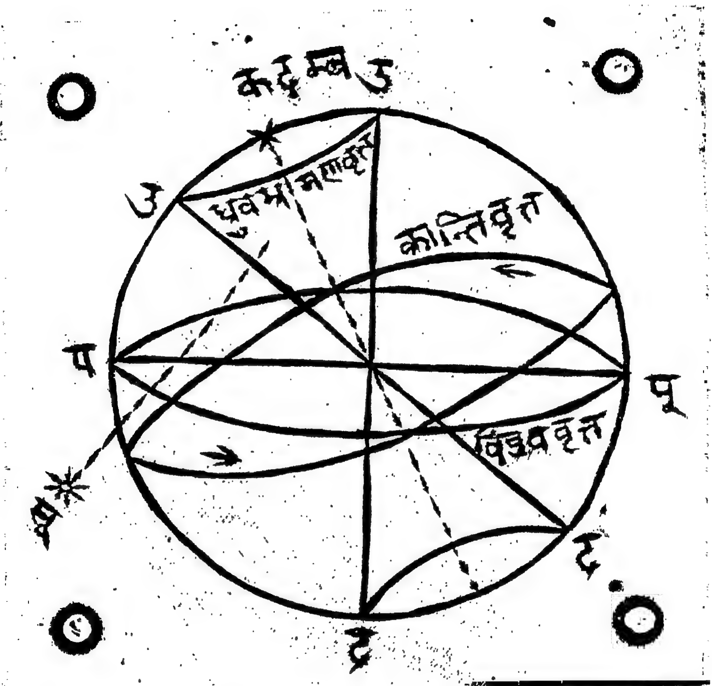
पृथ्वी सूर्य के गिर्द भूकक्षावृत्त पर घूमती हुई सर्वदा सूर्य को विषवद्वृत्त धरातल में सम्मुख नहीं रखती है किन्तु किसी समय विषवद्वृत्त के धरातल में रखती है और किसी समय उस धरातल से उत्तर या दक्षिण में रखती है। आजकल एक वर्ष में सूर्य अधिक से अधिक विषवद्वृत के धरातल से उत्तर दक्षिण २३अंश २६' ३२" हटा करता है जिस समय सूर्य विषवृत्त के सन्मुख आता है तो उसके आकर्षण बल को दिशा ठीक केन्द्र पर होती है और जब उत्तर या दक्षिण को तरफ़ हटता हो तो उसके आकर्षण बल को दिशा केन्द्र से हटी रहती है, जैसा कि इस चित्र में दिखाया है। इस चित्र में क पृथ्वी केन्द्र है, उ उत्तर है,

चित्र संख्या २



सूर्य के आकर्षण से पृथ्वी का अक्ष पूर्व की ओर झुका हुआ है।

चित्र संख्या ३



सूर्य के आकर्षण की दिशा बदल जाने से पृथ्वी का अक्ष कदम्ब के चारों ओर घूमता है।

द दक्षिण है, पू और प दो बिन्दु विषवद्वृत्त पर १८०° अंश की दूरी पर है। जब सूर्य विषवद्वृत्त से उत्तर को तरफ होता है तो पृथ्वी का विषवद्वृत्तीय भाग कुछ उत्तर की तरफ झुक जाता है और जब दक्षिण को तरफ होता है तो दक्षिण की तरफ झुक जाता है। विषवद्वृत्त उत्तर की तरफ झुक जाने से अक्ष का उत्तरध्रुवीय प्रान्त सूर्य से परे हट जाता है और विषवद्वृत्त के दक्षिण की तरफ झुक जाने से अक्ष का दक्षिणध्रुवीय प्रान्त सूर्य से परे हट जाता है। इस प्रकार सूर्य के गिर्द पृथ्वी के वार्षिक भ्रमण में पृथ्वी के अक्ष की दिशा भी भूकक्षावृत्त के समानान्तर एक छोटे वृत्त में भ्रमण करती है ।

इस चित्र में पृथ्वी का अक्ष उ द उत्तर और दक्षिण की ओर उ उ' और द द' वृत्तों में भ्रमण करता है जो क्रान्तिवृत्त के समानान्तर है। प० पू० वृत्त पृथ्वी का विषुववृत्त है।

विषुवद्वृत्त के सूर्य की तरफ झुकने का कारण यह है कि पृथ्वीस्थ द्रव्य पृथ्वी के विषुवद्वृत्तीय भाग में अधिक इकट्ठा हो गया है, क्योंकि पृथ्वी गर्भस्थ द्रव्य को केन्द्रप्रतिकूल बल (Centrifugal) विषुवद्वृत्त की तरफ फेंक रहा है। इसी कारण पृथ्वी ध्रुवीय प्रदेशों में कुछ चपटी है। चूंकि आकर्षण बल द्रव्य की मात्रा के अनुपात में उस पर लगता है अतः विषुववृत्तीय भाग सूर्य की तरफ खिंच जाता है। पृथ्वी गर्भस्थ बाहिर की ओर इसलिए फेंका जा रहा है क्योंकि गर्भ अग्नि का वेग बाहिर की ओर होने से अर्थात् केन्द्र प्रतिमुख होने से अग्नि के बल से द्रव्य बाह्य पृष्ठ की ओर फेंका जाता है। बाहर की ओर आता हुआ द्रव्य सूर्य और चन्द्र के आकर्षण से विषुववृत्त पर अधिक

इकट्ठा हो जाता है। क्योंकि सूर्य और चन्द्र पृथ्वी के अन्य भाग की अपेक्षा विषुववृत्त के अधिक समीप रहते है। बाहिर फेंका हुआ पृथ्वी गर्भस्थ द्रव्य सूर्य चन्द्र की आकर्षण दिशा की ओर झुकने से ही पृथ्वी का अक्ष भ्रमण हो रहा है। पृथ्वी का यह अक्षभ्रमण इतने अधिक वेग से होता है कि सूर्य की ओर झुकता हुआ भी अक्ष बहुत अधिक नहीं झुकता बहुत थोड़ा झुकता है। जैसे वेग से घूमते हुए लटटू का भारी पार्श्व पृथ्वी की ओर झुकता हुआ भी अपने अक्ष भ्रमण के वेग के कारण बहुत थोड़ा झुकता है। यद्यपि वर्ष भर की पूर्ण परिक्रमा में अक्ष का झुकाव एक वृत्त में घूमकर एक जैसा हो जाना चाहिए अन्तर नहीं पड़ना चाहिए परन्तु पृथ्वी गर्भस्थ द्रव्य के अत्यल्प मात्रा में बाहिर की ओर स्थिर हो जाने से उसी अनुपात में विषुवद्वृत्त का सूर्य की ओर झुकाव अत्यल्प मात्रा में स्थिर हो जाता है। उसी झुकाव का फल प्रत्यक्ष में यह होता है कि विषुववृत्त अत्यल्प मात्रा में पृथ्वी के घूमने की विरुद्ध दिशा में पीछे हटता रहता है अर्थात् अयनांश उत्पन्न होता रहता है। लगातार निरीक्षण से पता लगाया गया है कि एक वर्ष में लगभग ५४. १५. अयनांश उत्पन्न होता है। इस वेग से अयनांश उत्पन्न होता हुआ ३६० अर्थात् पूरा भ्रमण उत्पन्न होने के लिये २५९२० वर्ष के लगभग अर्थात् २६००० वर्ष के लगभग लगते हैं।

इस अयनांश की उत्पत्ति में जहाँ सूर्य का हिस्सा है वहाँ उससे अधिक चन्द्रमा का हिस्सा है, क्योंकि चन्द्रमा पृथ्वी के अधिक निकट है। उसका आकर्षण पृथ्वी पर अधिक पड़ता है। जब चन्द्रमा पृथ्वी के गिर्द घूमता हुआ उसी ओर को आता

है जिस ओर पृथ्वी के सूर्य है तो सूर्य के बल को बढ़ाता है और जब उससे विपरीत दिशा की ओर जाता है तो उसके पृथ्वी पर लगते हुए सूर्य के आकर्षण बल को घटाता है। सूर्य और चन्द्रमा दोनों के निमित्त से उत्पन्न होता हुआ अयनांश चान्द्र सौर अयनांश (Luni-solar Precesion) कहलाता है। जितना अयनांश वर्ष भर में उत्पन्न होता है उसका दो तिहाई भाग चन्द्रमा के कारण है और शेष एक तिहाई सूर्य के कारण है। क्रान्ति वृत्त और विषुववृत्त के पारस्परिक झुकाव पर अर्थात परमक्रान्ति पर चान्द्रसौर अयनांश का कुछ प्रभाव नहीं पड़ता है।

अक्षविचलन (Nutation)

चन्द्रमा पृथ्वी के चारों ओर जिस कक्षा पर घूमता है उसे चन्द्रपरिभूकक्षा और सूर्य के गिर्द जिस कक्षा पर घूमता है उसे चन्द्रपरिसूर्यकक्षा कहते हैं। चन्द्रपरिभूकक्षा ठीक क्रान्ति वृत्त के धरातल में नहीं है किन्तु कुछ हटी हुई है। जिस प्रकार सूर्य के आकर्षण से पृथ्वी का अक्ष कदम्ब के चारों ओर भ्रमण कर रहा है इसी प्रकार चन्द्र के आकर्षण से पृथ्वी का अक्ष चन्द्र-परिभू कक्षा के केन्द्र के चारों तरफ भ्रमण करता है। इसका विचार पूर्ववत् करने से पता लगता है कि चन्द्र के कारण भी अयनांश परिणाम उत्पन्न हो रहा है। अयनांश परिणाम उत्पन्न करने वाला चन्द्र का बल पृथ्वी के अक्ष को चन्द्र परिभू कक्षा के ध्रुव के चारों ओर कोनाकृति में घुमा रहा है। परन्तु चन्द्र परिभू कक्षा का ध्रुव भी कदम्ब के चारों ओर एक वृत्त में घूम रहा है जिसकी त्रिज्या ५ अंश है। इसका प्रभाव विषुव-

वृत्त के धरातल पर दोहरा पड़ता है। इसके कारण मेष के प्रथम बिन्दु में आगे पीछे होने की अर्थात् कम्पनात्मक कालविशेष प्रमित गति (Periodic movement of oscillation) रहती है। इस गति में घूमने वाले मेष के प्रथम बिन्दु का मध्यम स्थान क्रान्तिवृत्त पर चान्द्र सौर अयनांश (Lunisolar Precession) या अयनांश (Precession) कहलाता है। इन घटनाओं का नाम अक्ष विचलन (Nutation) रक्खा गया है। अक्षविचलन का सिद्धान्त (Bradley) ब्रैड्ले के महान् आविष्कारों में से एक आविष्कार है। जिस प्रकार चन्द्र के आकर्षण के विचार से अक्ष विचलन (Nutation) का विचार हुआ है ठीक उसी प्रकार सूर्य के आकर्षण के विचार से चन्द्र परिभू कक्षा पर (Nutation) अक्ष विचलन के विचार के कारण चान्द्र अयनांश का विचार करके वास्तविक अयनांश का स्वरूप जाना जा सकता है; परन्तु यह अक्षविचलन का परिणाम चन्द्र निमित्तक अक्षविचलन के परिणाम की अपेक्षा से अत्यल्प है अतः उपेक्षणीय है।

चान्द्र सौर अयनांश और अक्षविचलन दोनों क्रान्तिवृत्त और विषुववृत्त दोनों की आपेक्षिक स्थिति को बदलने में किस प्रकार सम्बन्ध रखते हैं यह तो हो चुका, अब हमको यह देखना है कि क्रान्तिवृत्त का धरातल स्वयं भी स्थिर धरातल नहीं है और इसके परिवर्तनों की भी गणना कैसे की जा सकती है। क्रान्तिवृत्त में परिवर्तन पृथ्वी पर ग्रहों के आकर्षण से आते हैं। ये परिवर्तन इतने सूक्ष्म हैं कि बहुत से कार्यों के सम्बन्ध में इनकी सत्ता को भूला जा सकता है और क्रान्तिवृत्त को बिलकुल स्थिर माना जा

सकता है। इस प्रकार सम्पात बिन्दुओं (Equinoctial points) की स्थिति में उत्पन्न हुआ अनियम ग्रह अयनांश (Planetary precession) कहलाता है।

ग्रहों के आकर्षण से पृथ्वी की कक्षा की स्थिति तो बदल जाती है परन्तु विषुववृत्त की स्थिति नहीं बदलती है। ग्रहों के आकर्षण के विचार में विषुव वृत्त को स्थिर माना जाता है, और क्रान्तिवृत्त को गतिशील माना जाता है। इसका परिणाम दोनों वृत्तों की उभयनिष्ठ छेदन रेखा या सम्पातबिन्दु को विषुववृत्त के धरातल पर चक्रिक गति है। इस चाक्रिक गति की दिशा वही होती है जिस दिशा में विषुवांश गिने जाते हैं। इस प्रकार सब तारों के वार्षिक विषुवांश में कुछ न्यूनता आती है जिसे ग्रह सम्बन्धी अयनांश कहते हैं।

इस प्रकार विषुववृत्त पर क्रान्ति वृत्तीय गति से उत्पन्न प्रभाव का नाम ग्रह सम्बन्धी अयनांश (Planetary precession) ठहरता है। चान्द्र सौर अयनांश तारों के शरों पर कोई प्रभाव नहीं डालता है। परन्तु चूँकि यह उनके भोगों (Longitudes) को बदलता है अतः विषुवांश और क्रान्ति को भी बदलता है। ग्रह सम्बन्धी अयनांश तारों की क्रान्ति से कोई सम्बन्ध नहीं रखता है परन्तु उनके विषुवांश, उनके भोग और उनके शरों को बदल देता है।

चूँकि ग्रहों के आकर्षण से क्रान्तिवृत्तीय धरातल की मध्यम स्थिति बदल जाती है, जब कि विषुववृत्त के धरातल की मध्यम स्थिति स्थिर रहती है, अतः इन धरातलों का पारस्परिक झुकाव भी

बदल जाता है या परमक्रान्ति (Obliquity of the Ecliptic) बदल जाती है।

चान्द्रसौर अयनांश को उत्पन्न करने में सूर्य और चन्द्र का आकर्षण यद्यपि परमक्रान्ति को बदलने में सीधा प्रभाव नहीं डालता, तथापि ग्रहों के आकर्षण से उत्पन्न परिवर्तन के आधार पर सूर्य और चन्द्र के आकर्षण का प्रभाव भी बदल जाता है। इस प्रकार विषुववृत्त के धरातल की मध्य स्थिति को लेकर क्रान्तिवृत्त के साथ झुकाव में एक बहुत सूक्ष्म परिवर्तन आता है।

ये परिवर्तन तारों के स्थान निर्देशकों (Co-ordinates) में अल्प परिवर्तन उत्पन्न करते हैं। इन परिवर्तनों की मात्रा बहुत दीर्घकाल में पहिचान में आती है। इस कारण इन्हें दीर्घकाला-पेक्षी (Secular) कहते हैं। साधारण अयनांश गणना में इनको भी साथ ही ले लिया जाता है। अयनांश गणना कैसे की जाती है यह तो फिर दिखलाया जायगा परन्तु अब ऋतु और मासों के सम्बन्ध का विचार किया जाता है।

ऋतु और मासों का सम्बन्ध

ऋतु और मासों का सम्बन्ध दिखाने से पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि ऋतु कैसे उत्पन्न होते हैं और मास कैसे उत्पन्न होते हैं। पृथ्वी जिस कक्षा पर सूर्य के गिर्द भ्रमण करती है उसको दो सम्पात बिन्दुओं (Equim letial hpoints) और दो अयनांत बिन्दुओं इस प्रकार चार बिंदुओं से चार भागों में विभक्त

का नाम ऋतु है। ये चार हैं—वसन्त, ग्रीष्म, शरद, शिशिर। जब सूर्य वसन्त सम्पात पर पहुँचता है तो वसन्त ऋतु आरम्भ होती है। इस समय सूर्य का भोग शून्य होता है। वसन्तसम्पात के बाद जब सूर्य अयनान्तबिन्दु पर पहुँचता है तो ग्रीष्म आरम्भ होता है और सूर्य का भोग इस समय ९० अंश होता है। जब सूर्य शरत्सम्पात पर पहुँचता है तो शरद ऋतु आरम्भ होती है। इस समय सूर्य का भोग १८० अंश हो चुकता है। फिर जब सूर्य का भोग २७० अंश हो चुकता है तो शिशिर ऋतु आरम्भ होती है। यह तब तक रहती है जब तक सूर्य वसन्त-सम्पात पर फिर नहीं आता। शिशिर ऋतु का आरम्भ भी अयनान्त बिन्दु से होता है। ग्रीष्म जिस अयनान्त बिन्दु से आरम्भ होता है उसे उत्तरायण बिन्दु कहते हैं और शिशिर जिस अयनान्त बिन्दु से आरम्भ होता है उसे दक्षिणायन बिन्दु कहते हैं। एक गणना दूसरे ढंग से की जाती है जिसमें वर्षाऋतु को भी स्थान दिया जाता है। यह पद्धति यज्ञ के सम्बन्ध में ग्रहण होती है। जब सूर्य दक्षिणायन बिन्दु पर पहुँचता है उसके पश्चात् उत्तरायण काल आरम्भ हो जाता है। उत्तरायण काल में यज्ञ आरम्भ किया जाता था। यहीं से ७२ अंश की दूरी पर शिशिर की समाप्ति और वसन्त का प्रारम्भ माना जाता था। दक्षिणायन बिन्दु से १४४ अंश पर वसन्त की समाप्ति और ग्रीष्म का प्रारम्भ होता था। फिर २१६ अंश पर ग्रीष्म की समाप्ति और वर्षा का आरम्भ, पश्चात् २८८ अंश पर वर्षा समाप्ति और शरद आरम्भ और ३६० अंश पर पूरा चक्र होकर शरद की समाप्ति हो जाती थी। यज्ञ का आरम्भ नक्षत्रों के आधार पर था। पुनर्वसु

तारा मण्डल के तृतीय चरण के प्रथम बिन्दु का नाम अदिति है। जब अदिति ख स्वस्तिकगत याम्योत्तर वृत्त पर आता है तब से लेकर जब अधः स्वस्तिक में पहुँचता है तबतक यज्ञ काल है। साथ ही अग्न्याधान वसन्त काल में जब सूर्य सम्पात बिन्दु पर पहुँचता है तब कहा है। बसन्तकाल का प्रारम्भ, सम्पात बिन्दु में गति होने से, सर्वदा एक ही नियत नक्षत्र से नहीं होता है। वसन्त सम्पात प्रारम्भ होने के समय से जिस नक्षत्र पर सूर्य होता था उसी नक्षत्र का नाम लेकर आचार्यों ने अग्न्याधान का विधान भिन्न-भिन्न समय में कर दिया है। कभी कृत्तिका पर वसन्त सम्पात होता था तब कृत्तिका में अग्न्याधान लिखा, जब चित्रा में वसन्त सम्पात आने लगा तब चित्रा में लिखा। इस प्रकार कभी मृगशिरा नक्षत्र पर वसन्त सम्पात होता था तब यही काल अग्न्याधान के लिये था और इसी काल को आग्रहायण काल कहा जाता है। महाभारत काल में मृगशीर्ष नक्षत्र पर ही वसन्त-सम्पात होता होगा इसीलिये उस काल का निर्देश करके श्रीकृष्ण कहते हैं "मासानां मार्गशीर्षोऽहम्" अर्थात् मैं मासों में मार्गशीर्ष हूँ। बारह मासों के नाम बारह नक्षत्रों पर पड़े हुए हैं। पृथ्वी के राशिचक्र में चलते हुए जिस-जिस नक्षत्र मण्डल के प्रारम्भ के तारे पर सूर्य आता है उसी-उसी तारे के नाम से वह वह मास कहा जाता है। वसन्त सम्पात बिन्दु में वक्रगति होने से जितने काल के पश्चात् सूर्य किसी नक्षत्र पर पहिले आया था अब उस नक्षत्र पर कुछ कम समय में आता है। इस प्रकार धीरे-धीरे इतना अन्तर पड़ जाता है कि कई मास पहिले आने लगता है। ऋतु उसी क्रम से पृथ्वी के नियत भ्रमण में आते चले जाते हैं,

परन्तु उनके साथ मासोंका सम्बन्ध बदल जाता है। यज्ञीय तथा अन्य धार्मिक कार्य ऋतु विशेष में सूर्य की गर्मी को लक्ष्य में रख कर होते हैं। अतः जो ऋतु जिस-जिस मास में पड़ती है उसी २ मास में वह कार्य किया जाता है और। समय-समय पर आचार्य लोग इसकी व्यवस्था देते रहते हैं। इस प्रकार ऋतुओं और मासों का सम्बन्ध अनिश्चित है।

ऋतुओं की उत्पत्ति सूर्य के गिर्द पृथ्वी के भ्रमण से होती है। भिन्न-भिन्न स्थिति में पृथ्वी पर सूर्य की गर्मी बदल जाती है। पृथ्वी के किसी स्थान पर आती हुई गर्मी इस बात पर निर्भर करती है कि सूर्य कितने घण्टों तक क्षितिज के ऊपर रहता है और खस्वस्तिक से उसका अन्तर कितना रहता है। पृथ्वी के किसी स्थान पर सूर्य के ताप की मात्रा के बदलने से उस स्थान के अन्तरिक्षस्थ पदार्थ की अवस्था में घनता और विरलता सम्बन्धी परिवर्तन होते रहते हैं। इन्हीं परिवर्तनों का नाम ऋतु है। भिन्न-भिन्न ऋतु में इन परिवर्तनों के भिन्न-भिन्न रूप प्रकट होते हैं जो वसन्त, ग्रीष्म, प्रावृट्, वर्षा, शरद, हेमन्त और शिशिर आदि नामों से उन परिवर्तनों के पृथ्वी पर प्रभावों को प्रकट करने के लिये विख्यात हैं। ये ऋतु पृथ्वी के भ्रमण के कारण क्रमशः हो ही रहे हैं परन्तु इनका सम्बन्ध मासों से स्थिर नहीं रहता है। आज जो सम्बन्ध ऋतुओं और मासों में है वह पहले नहीं था और आगे नहीं रहेगा। यदि किसी अतीत काल में किसी ऋतु और मास में वा किसी ऋतु और नक्षत्र में सम्बन्ध मालूम हो तो आजकल के सम्बन्ध को देखकर गणना से पता लगाया जा सकता है कि अतीत काल में वह सम्बन्ध अब से कितने काल

पूर्व होना चाहिये। क्योंकि ऋतु और मास वा ऋतु और नक्षत्र का सम्बन्ध क्रान्तिवृत्त पर सम्पातबिन्दु के घूमने के कारण बदलता रहता है।

अयनांश गणना

न्यूकम (Newcombe) ज्योतिषी ने अयनांश की वार्षिक वृद्धि का स्थिर अङ्क—

५०."२४५३ + ०."०००२२२५ वर्ष संख्या

निकाला है।

यदि किसी तारे का अयनांश अर्थात् मेष के प्रथम बिन्दु से उस तारे की दूरी क्रान्तिवृत्त पर मालूम हो अर्थात् (Longitude) मालूम हो तो अयनांश वृद्धि के स्थिरांक से उस दूरी को भाग देकर यह मालूम कर सकते हैं कि कितने वर्ष पहिले वह तारा बसन्त सम्पात विन्दु पर था।

यहाँ हम मृगशिरा (Orion) नक्षत्र के विषय में विचार करते हैं कि लगभग कितने वर्ष पहिले बसन्त सम्पात उस पर हुआ करता था।

मृगशिरा नक्षत्र में कई तारे हैं उनमें से एक तारा (Betelgeux) है। यह (Baily) की नक्षत्र सारिणी में ७३५ संख्या का तारा है। ईसा से १३० वर्ष पहिले इसका (Longitude) टालमी ने ५९°८' दिया है,—१२' कला का इसमें शोधन करने पर तारे का (Longitude) ५८° ५६' होता है। इसको स्थिरांक से भाग देने से मालूम होगा कि इतना अयनांश कितने वर्षों में हुआ।

सुगमता के लिये स्थिरांक ५०''·२६ मान लिया जाता है।

अभीष्ट वर्ष—

$$\frac{(५८ \text{अंश} \times ६० + ५६') ६० \times १००}{५०२६} = \frac{३५३६ \times ६० \times १००}{५०२६}$$

```
५०२६) २१२१६००० (४२२१
      २०१०४
      ------
       १११२०
       १००५२
       ------
        १०६८०
        १००५२
        ------
          ६२८०
          ५०२६
          ----
          १२५४
```

$$\frac{१२५४}{५०२६} = \frac{1}{४}$$

इन वर्षों में १३० + १९२८ वर्ष और जोड़ने से मालूम होता है कि इस समय से लगभग कितने वर्ष पूर्व वसन्त सम्पात मृगशिरा पर होता था।

वे वर्ष समान हैं

$६२७९\frac{1}{४}$

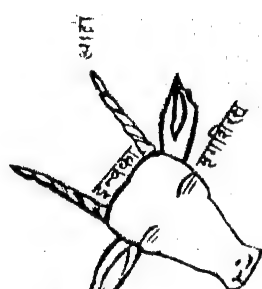
शतपथ ब्राह्मण में मृगशिरा नक्षत्र को लेकर वसन्त सम्पात के समय यदि यज्ञ प्रारम्भ करने का उल्लेख है तो शतपथ ब्राह्मण का काल हो इस समय से ६००० वर्ष से अधिक पूर्व मानना पड़ता है। इसी के अनुसार कहना पड़ता है कि वेद का काल इस समय कम-से-कम ६००० वर्ष से उरे नहीं माना जा सकता।

देवराज विद्यावाचस्पति

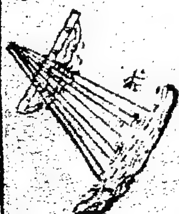
(गुरुकुल विश्व-विद्यालय, काङ्गड़ी)

२० फ़रवरी सन् १९२९









शृंगिणमभिनच्छुष्णमिन्द्रः। ऋ० १-३३-१२

यन्द्वत्यं मायिन मृगं तमुत्वं माययावधीः। ऋ० १-८०-७

शिरोन्वस्य रात्रिष। ऋ० १०-८६-५

श्वान्वस्य जंभिषदपि कर्णे वराहयु। ऋ० १०-८६-४

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी।

ऋ० १०-१४-११

* श्री: *

वेदकाल निर्णय।

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के ओरायन् (मृगशीर्ष) का अनुवाद।

हमारा वेद आज तक जितने भी प्राचीन ग्रन्थ मिल चुके हैं उन सब में सब से प्राचीन है; इस विषय में अब किसी को कोई भी शङ्का नहीं रह गई है। मनुष्य जाति का विशेष कर आर्य शाखा का सबसे पुराना इतिहास जानने के लिये वेद के समान कोई दूसरा उपाय नहीं है ऐसा मैक्समूलर आदि पश्चिम देश के विद्वानों को भी पूर्ण विश्वास हो चुका है। इस कारण वैदिक ऋचायें कब रची गईं तथा कवि वाल्मीकि की तरह अति प्राचीन वैदिक ऋषियों को ऋचायें रचने की कब सूझ हुई इन सब बातों के समय का निश्चय करना एक महत्त्व पूर्ण बात है। गौतम बुद्ध से लेकर शङ्कराचार्य के हाथ से जब बौद्ध मत का गिराव हुआ और अद्वैत वेदान्त मत की स्थापना हुई उस समय तक की बातों को (जिसको बिलकुल नवीन कहना चाहिये) वैदिक काल से तुलना की जाय तो कई ग्रीक पुराणों से और बौद्ध राजा अशोक के शिला लेखों से और इसी प्रकार चीनी यात्रियों के वर्णन से अथवा और न्यून वा अधिक महत्व रखने वाले साधनों से इसका काल-क्रम का निश्चय होता है परन्तु इस काल से पहले आर्यावर्त के इतिहास के विषय में निश्चित रूप-

से कोई बात समझ में नहीं आती और इन सबसे पुराने किन्तु मानव जाति के इतिहास संशोधकों के लिये जो अत्यन्त महत्व का ग्रन्थ है उसके काल के विषय में अब तक धुंधले धुंधले केवल तर्क ही तर्क चल रहे हैं।

वेद काल का निश्चय करना संभव है कि नहीं इस प्रश्न के विषय में बहुत से प्राचीन वा नवीन पुरुषों की बुद्धि आज तक चल विचल हो रही है। यद्यपि हमने इस विषय में लिखने का साहस किया है। किन्तु इस काल निर्णय के प्रश्न का साङ्गोपाङ्ग विचार करके अन्तिम परिणाम* निकाल लिया यह नहीं कहा जा सकता। तथापि इस विवेचन के योग से आर्य लोगों की अत्यन्त प्राचीन सभ्यता के समय पर थोड़ा बहुत प्रकाश अवश्य पड़ेगा ऐसी आशा की जाती है। परन्तु इस काल का निश्चय करना विद्वानों के ही हाथ में है।

इस विवेचन के आरम्भ करने से पहले वेद-काल निर्णय करने में विद्वान् लोगों ने आज तक किन-किन उपायों का अवलम्बन किया है यह प्रथम देखना चाहिये। मैक्समूलर प्रभृति विद्वानों ने भाषा-पद्धति का उपयोग किया है। इस साधन में एक प्रकार से वेदकाल के चार भाग छन्द काल, मन्त्रकाल, ब्राह्मण काल, सूत्र काल, इस प्रकार से है। इस प्रकार चार भाग कल्पना करके प्रत्येक भाग के दो दो सौ वर्ष रख कर मैक्समूलर ने ऋग्वेद के रचना काल की अवधि आठ सौ वर्ष पूर्व रक्खी है।

* मूल पुस्तक लो० मा० तिलक ने १८९३ के लगभग लिखा था। आज की मिती में बहुत से मन्तव्य सर्वमान्य हो गये हैं।

परन्तु जब ये सब काल बुद्धकाल* से पहिले के हैं ऐसी दशा में बुद्ध के समय से आठ सौ वर्ष पूर्व गिनने पर वेदकाल अनुमान से ईस्वी सन् से पहले आठ सौ वर्ष पूर्व से बारह सौ वर्ष पूर्व तक जा पहुँचता है। परन्तु यह पद्धति अत्यन्त दोषयुक्त है। कारण ये है कि इस पद्धति को स्वीकार करके भिन्न भिन्न लोगों की पृथक् २ सम्मतियाँ हो गई हैं। कोई तो ऊपर लिखे हुए चार-भागों में से तोन ही भाग समझते हैं। कोई चार काल समझ कर भी प्रत्येक भाग को अधिक वर्षों का मानते हैं। जिनमें डाक्टर हाऊ ने प्रत्येक भाग को ईस्वी सन् से पूर्व २४०० चौबीस सौ वर्ष से लेकर दो हजार वर्ष तक स्थिर किया है। किन्तु यह पद्धति अत्यन्त अनिश्चित होने के कारण वेद काल के निश्चय करने में अधिक उपयोगी नहीं हो सकती।

दूसरी ज्योतिष पद्धति है अर्थात् वेद, ब्राह्मण, सूत्र, आदि ग्रन्थों में ज्योतिष विषय की बातों का जो कुछ उल्लेख है या सम्बन्ध है उससे हम आर्य सभ्यता का सबसे पुराना काल निश्चित कर सकेंगे यह बहुतों का अनुमान है। परन्तु इस प्रयत्न में भी उन लोगों को जैसी संभावना थी वैसा यश नहीं मिला। कारण उस का यह है कि ज्योतिष विषय के जो ग्रन्थ इस समय उपलब्ध हैं उनमें वेदाङ्ग ज्योतिष को छोड़ कर सब ग्रन्थ नवीन काल के हैं। इन ग्रन्थों में ग्रीक लोगों के ज्योतिष ग्रंथों का भी मेल हो गया है और इसी प्रकार उनमें काल साधन की रीति भिन्न-भिन्न प्रकार

---

* गौतम बुद्ध ईसवी सन् से पूर्व ५०० वर्ष के लगभग हुआ था ऐसा विद्वान् लोगों का मत है।

की होने के कारण वा अन्य कई कारणों से भी नवीन ग्रंथों में मिलने वाली ज्योतिष विषयक बातों का पूरा अर्थ लगाना बहुत ही कठिन हो गया है। इसके सिवाय और भी कई आपत्तियाँ हैं। उदाहरणार्थ कई लोगों ने वेद जैसे प्राचीन ग्रन्थ की रचना के समय अयनान्त बिन्दु[1], संपात बिन्दु आदि बातों का यथार्थ ज्ञान होना सम्भव नहीं ऐसी शङ्का की है। इन शंकाओं में सत्यांश कितना है यह पहले देखना चाहिये। अभी इतना कहना आवश्यक है कि ऐसे प्रकार की शङ्कायें रख कर वेदों में मिलने-वाली प्रत्यक्ष वर्णन की हुई ज्योतिष विषयकी बातों को कुछ संस्कृत के पण्डितों ने निरर्थक कहा है।

१—सूर्य का (वास्तव में पृथ्वी का) नक्षत्रों में भ्रमण करने का मार्ग अर्थात् क्रान्तिवृत्त (Zodiac) और आकाश का विषुववृत्त ये दोनों वृत्त एक धरातल में नहीं हैं। उनमें २३½ साढ़े तेईस अंश के लगभग कोना है। अर्थात् ये दोनों वृत्त आपस में एक दूसरे को दो जगह काटते हैं। इन छेदन बिन्दुओं को संपात कहा जाता है। इन दोनों संपातों में जिस संपात पर सूर्य के आ जाने पर वसन्त ऋतु का आरम्भ हो जाता है उसको वसन्त संपात कहते हैं और उसके ठीक सामने वाले संपात को शरत् संपात कहते हैं। इन दोनों बिन्दुओं से ९० अंश के अन्तर पर जो दूसरे बिन्दु हैं उनको अयनबिन्दु कहते हैं। एक उत्तरायण और दूसरा दक्षिणायन बिन्दु है। अब इन ऊपर बतलाये हुए दोनों वृत्तों में क्रान्ति-वृत्त स्थिर है। परन्तु दूसरा वृत्त चल है। इस कारण उन दोनों वृत्तों को आपस में छेदन करने वाले संपात बिन्दु भी चल हैं। संपात-चलन किंवा अयन चलन जो कहा जाता है यह विषुव वृत्त के चल होने से ही होता है।

परन्तु इस ज्योतिष पद्धति को पश्चिम देश के विद्वानों ने व्यर्थ दूषण लगाने का प्रयत्न किया है। इस पद्धति में कोई खराबी नहीं है यह बात तो नहीं है परन्तु इन लोगों ने बिना कारण एक खेल कर लिया है। मुख्य प्रमाण को विचार में रख कर उसमें पीछे मिली हुई व्यर्थ बातों को पृथक छांटने का प्रयत्न न होने से इस प्रकार की भूलें रह गईं। कितने ही बेण्टले प्रभृति विद्वानों ने इस पद्धति को स्वीकार करते हुए पुराण की बातों पर और शब्दों की बनावट पर बहुत जोर दिया है। परन्तु उन बातों का प्रत्यक्ष वेद में क्या मूल है इस बात को देखने का उन लोगों ने बिलकुल प्रयत्न नहीं किया। कारण पुराण की कथाओं में वेद के गम्भीर विषयों का बहुत जगह बिलकुल रूपान्तर हो गया है और ऐसा होने से उन बातों में बहुत सी और और बातें भी मिल गई हैं। इस कारण उन बातों का जब तक वेदों में प्रमाण न मिले तबतक किसी भी बात का निश्चित रूप से अनुमान कर डालना उचित नहीं हो सकता। इस ही कारण आगे के विचार से संहिता, ब्राह्मण और सब से प्राचीन पुराण ऋग्वेद में मिलने वाले लेखों से भारतीय साहित्य के भूगोल सम्बन्धी वा इतिहास सम्बन्धी प्रमाणों के द्वारा पूर्णरूप से प्राचीन सिद्ध किया जा सकता है। इस बात के दिखलाने का प्रयत्न करना बाकी है। इस प्रकार के प्रयत्न गोडबोले, दीक्षित आदि भारतीय ज्योतिष-शास्त्र के विद्वानों ने किये हैं परन्तु उस तरफ विद्वानों की दृष्टि जितनी जानी चाहिये उतनी नहीं गई आगे का विवेचन उन लोगों की आरम्भ की हुई उपपत्ति की पूर्ति है यह कहने में कोई हानि नहीं।

वेदकाल निर्णय करने में जिन वेद वाक्यों का आश्रय लेना है वह वेदवाक्य किस प्रकार के है। प्रथम यह बात देखने की है कि वैदिक समय में वर्तमान काल के समान वेध करने के सूक्ष्म यन्त्र नहीं थे यह बात तो स्पष्ट ही है। अर्थात् उस समय जो नेत्रों से ही दीखता था उस पर सारे अनुमान बांधे जाते थे। अर्थात् साधारण दृष्टि से देखी हुई बातों में सूक्ष्म गणित की कोई आवश्यकता नहीं थी केवल मोघम प्रमाणों पर ही सब गणित होता था। और वर्ष का मान भी आज जितना सूक्ष्म जाना गया है उस समय उतना सूक्ष्म नहीं माना जाता था। वर्ष में न्यारे न्यारे समय अर्थात् ऋतुओं का पूरा एक चक्र समाप्त होने पर दूसरा चक्र आरम्भ होते ही वर्ष भी दूसरा आरम्भ हो जाता था। उस समय; समय का परिमाण सब लोग समझ सकें इस कारण वर्तमान समय की तरह पञ्चाङ्ग बनाने की व्यवस्था भी नहीं थी किंतु फिर भी उन लोगों ने इस प्रकार के उपाय अवश्य कर रक्खे थे इसमें कोई संशय नहीं। कालमापन की इस समय सावन, चान्द्र, नाक्षत्र, सौर, इस प्रकार की जो रीतियां है उनका वैदिक ग्रंथों में कहीं पर भी उल्लेख नहीं। और वेदाङ्ग-ज्योतिष के सिवाय पञ्चाङ्ग बनाने का दूसरा कोई पुराना ग्रन्थ भी नहीं इस कारण वह लोग किस प्रकार कालमापन किया करते थे यह बात कितने ही वैदिक लेखों से वा यज्ञ करने के ग्रंथों में वर्णन की हुई कितनी ही पुरानी दन्तकथाओं से समझ लेना चाहिये। ऋग्वेद के कितने ही यज्ञसूक्तों से निश्चित होता है कि उस समय यज्ञादि करने की रीति बहुत उन्नत दशा को प्राप्त हो चुकी थी। यह बात महीने, ऋतु, वर्ष, इनका अच्छा

ज्ञान हुए बिना सम्भव नहीं दीखती। इस कारण उस समय काल निश्चय करने के लिये वैदिक काल के ऋषियों ने कुछ न कुछ अवश्य ही उपाय कर रक्खा होगा, वह क्या उपाय था यदि उसका ठीक स्वरूप न मालूम हो तथापि यज्ञ यागादिक संबन्धी ग्रंथों से इतना अवश्य दीखता है कि चन्द्रमा का कलावृद्धि क्षय, ऋतुओं का परिवर्तन सूर्य के उत्तर दक्षिण अयनों का बदलना यह सब बातें उस समय कालमापन के मुख्य मुख्य चिन्ह थे। दूसरी बात ये है पुराने यज्ञ वा सत्र इनकी मुख्य बातें वा संवत्सर अर्थात् वर्ष भर की मुख्य मुख्य बातें बिलकुल एक ही थी। और ये सब बातें सूर्य की वार्षिक गति पर ही स्थापित की गई थीं। वर्ष भर के छै छै महीने के दो विभाग करके प्रत्येक महीने के तीस तीस दिन नियत किये गये। इस बात से यह स्पष्ट मालूम होता है कि वैदिक ऋषियों ने अपना पञ्चाङ्ग प्रधान रूप से यज्ञ यागादिक कर्मों के लिये ही बनाया था। और इसी तरह यज्ञ यागादिक के समय को निश्चित करने के लिये ही पञ्चाङ्ग की व्यवस्था भी ठीक रक्खो जाती होगी। इस वार्षिक सत्र में हवन के समय; प्रतिदिन प्रातःकाल वा सायंकाल तथा दर्शमास (अमावास्या के दिन), वा पूर्णमास (पूर्णिमा के दिन) वा प्रत्येक ऋतु का वा अयन का आरम्भ ये सब थे[1]। इस रीति से सत्र पूरे हुए कि वर्ष भी पूरा हो जाता था। और इस ही कारण से संवत्सर और यज्ञ ये दोनों शब्द बहुत करके समान अर्थ वाले ही थे। ऐतरेय[2] ब्राह्मण के "संवत्सरः प्रजापतिः

---

१. बौधायन सूत्र २–४–२३. मनुस्मृति ४–२५–२६।

२. 'ऐतरेय ब्राह्मण' २–७, ४–२२।

प्रजापतिर्यज्ञः" और तैत्तिरीय[1] संहिता के 'यज्ञो वै प्रजापतिः, संवत्सरः प्रजापतिः' इन वाक्यों से अत्यन्त स्पष्ट रूप से ये बात जानी जाती है । अस्तु ।

अब इस संवत्सर वा यज्ञ का जो मुख्य भाग है उसका थोड़ा सा विचार करना चाहिये । समय को नापने का मुख्य मान सावन दिन अर्थात् एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक का काल माना जाता था । और इस प्रकार के तीस दिनों का एक महीना और ऐसे १२ महीनों का अर्थात् ३६० दिन का एक वर्ष होता था । परन्तु तुलनात्मक उत्पत्ति शास्त्र से जाना जाता है कि प्राचीन आर्य लोग चन्द्रमा के द्वारा ही महीने का परिमाण नियत करते थे । परन्तु तीस सावन दिन का महीना चान्द्र महीने के बरोबर होना सम्भव नहीं ।

इस ही कारण सावन वा चान्द्र महीनों का मेल बैठाने के लिये कुछ सावन महीनों में एक एक दिन कम करते थे । परंतु आगे चांद्र* वा सौर वर्षों का मेल बैठाने की आवश्यकता आ पड़ी । और उसके लिये अधिक दिवस वा अधिक मास रखने की युक्ति प्राचीन आर्य लोगों ने निकाली थी ये दीखता है । कारण ये है कि तैत्तिरीय वा वाजसनेयी यजुर्वेद संहिता में

---

१. तैत्तिरीय संहिता २-५-७-३, और ७-५-७-४, तथा ७-२-१०-३ ।

* बारह चान्द्र महीनों का १ चान्द्र वर्ष होता है । और चान्द्र-मास भी दो प्रकार के होते हैं । चन्द्रमा के एक नक्षत्र पर आने के बाद फिर उस ही नक्षत्र पर आने में जो समय लगता है वह नाक्षत्र मास और एक अमावस्या से दूसरी अमावास्या तक जो काल लगै उसको अमान्त मास कहते हैं । सर्वदा अमान्तमास ही माना जाता है ।

अधिक मास का उल्लेख जिन वाक्यों में है ऐसे बहुत से वाक्य हैं। और ऋग्वेद के* पहिले मण्डल में ही 'वेदमासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः। वेदाय उपजायते।' ऐसा कहा है। यह अधिक दिवस किंवा अधिकमास रखने की पद्धति पीछे की होगी ऐसा कितने ही विद्वानों का मत है परंतु वह निरर्थक है। इसमें कारण ये हैं कि ऋतुओं के परिमाण से वर्ष का अन्दाजा करना यह कुछ कठिन नहीं है। और वास्तव में ऋतुओं के चक्र पर ही वर्ष की कल्पना प्राचीन काल में जमाई गई थी। यदि ऐसा है तो बारह चान्द्र महीनों का समय ऋतुचक्र की अपेक्षा बारह दिन कम है। यह एक साधारण बात उन लोगों के समझने में कठिन थी यह कहना केवल साहसमात्र है। इन बारह दिनों का उल्लेख भी बहुत स्थानों में आया है। और वह सौ वर्ष का चान्द्र वर्ष से मेल बैठाने के लिये ही रक्खा जाता था यह बात उससे स्पष्ट दीखती है।

परन्तु यह सौर वर्ष नाक्षत्र सौर † वर्ष था वा सांपतिक सौर-वर्ष था ये भी देखना चाहिये। सौर वर्ष की कल्पना ऋतु चक्र

---

* ऋग्वेद १–२५–८।

† वर्षमान के अनेक प्रकार हैं। किसी एक नक्षत्र से चलकर फिर उस ही नक्षत्र पर आने में जितना समय लगता है उसको नाक्षत्र सौर-वर्ष कहते हैं। और एक संपात से चल कर फिर उस ही संपात में आने में जितना समय लगता है उसको सांपातिक किंवा आयनिक सौर वर्ष कहना चाहिये। संपात के चल होने से प्रति वर्ष में वह स्थान कुछ पीछे हटता है और इसही कारण से नाक्षत्र सौर वर्ष की अपेक्षा सांपातिक सौर वर्ष थोड़ा (अनुमान से १ घड़ी) कम होता है।

पर से करते थे यह बात सत्य है परन्तु सम्पात के हटने से ऋतुओं में पड़नेवाला अन्तर इतना सूक्ष्म है कि उसको प्रत्यक्ष देखने के लिये सैकड़ों वर्ष चाहिए। अर्थात् इतना सूक्ष्म अन्तर प्राचीन आर्यों की दृष्टि में भी आया हुआ था यह नहीं मालूम होता। कारण ये है कि उन लोगों का क्रांन्ति वृत्त पर सूर्य का स्थान निश्चय करने के लिये जो साधन था वह प्रतिदिन सूर्य के पास के स्थिर नक्षत्र को देखने के सिवाय और कुछ नहीं था। सूर्य सिद्धान्त के समय में यद्यपि अयन गति का ज्ञान होने लग गया था परंतु इस सिद्धान्त में सौर वर्ष मान नाक्षत्र ही माना गया था और इस अयन गति के विषय में किसी भी वैदिक ग्रंथ में प्रत्यक्ष वा परोक्ष उल्लेख नहीं है। इस कारण से यज्ञ अर्थात् सम्वत्सर; अयन सम्बन्धी सौर वर्ष (अर्थात् सांपातिक सौर वर्ष) न होकर नक्षत्र सम्बन्धी सौर वर्ष था इसमें सन्देह नहीं। परंतु इस वर्ष मान को मानने से प्रति दो हजार * वर्ष के अनन्तर

* सांपातिक वर्ष नाक्षत्र वर्ष की अपेक्षा स्थूलमान से १ घड़ी कम है। अर्थात् यदि आज चैत्र के आरम्भ में वसन्त ऋतु का आरम्भ हुआ हो तो अनुमान १८०० वर्ष में और यदि मोघम हिसाब से देखा जाय तो २००० वर्ष में वह फाल्गुन के महीने के आरम्भ में होने लगेगा। इस कारण वर्षारम्भ यदि वसन्त के आरम्भ में रखना हो तो २००० वर्ष के बाद चैत्र में न करके फाल्गुन में करना पड़ेगा। और फिर से दो हजार वर्ष में माघ में करना पड़ेगा। इस प्रकार से हर दो हजार वर्ष में वर्षारम्भ एक एक महीना पीछे हटाना पड़ेगा। संपात चल है और वसन्त संपात पर सूर्य के आने से वसन्त ऋतु का आरम्भ होता है। अर्थात् एक ऋतु से उस ही ऋतु पर्यन्त सांपातिक सौर वर्ष होता है यह अर्थ हुआ सो स्पष्ट ही है।

ऋतु चन्द्र से मेल बैठाने के लिए वर्षारम्भ का दिन बदलना पड़ेगा और इस प्रकार का फेरफार वर्षारम्भ में वास्तव में किया गया है यह बात ऊपर लिखे हुए विषय को अर्थात् वर्षमान सांपातिक न होकर नाक्षत्र था इस कहने को अधिक पुष्ट करती है।

अब वर्षारम्भ किस समय से होता था यह बात देखना है। ऊपर यह लिखा जा चुका है कि सम्वत्सर वा यज्ञ यह शब्द प्रायः एक ही अर्थ के सूचक थे इस कारण वर्ष का और यज्ञ का आरम्भ भी एक समय में ही होना चाहिये। वेदाङ्ग ज्योतिष में सम्वत्सर का आरंभ उत्तरायण से किया गया है। और श्रौत* सूत्रों में भी गवामयन आदि वार्षिक सत्रों का आरम्भ भी तब से ही करना चाहिये ऐसा लिखा है। देव सम्बन्धी सब कार्य उत्तरायण में ही करना चाहिये ऐसा जैमिनि आदि महर्षियों का मत है, और कितने ही ज्योतिष ग्रन्थों के प्रमाणों से उत्तरायण अर्थात् मकर संक्रमण से लेकर कर्क संक्रमण तक का समय है। इससे मकर संक्रमण सम्वत्सर का तथा उत्तरायण का पुराने वैदिक समय में आरम्भ का काल होगा ऐसी सहज में किसी को प्रतीति होगी। किंतु थोड़ी सूक्ष्मता के साथ वार्षिक सत्र के प्रयोगों का विचार करने से मकर संक्रमण सत्रों का आरम्भ काल नहीं होना चाहिये ऐसा विदित हो जायगा। इसका क्या कारण है यह पहले कहा भी जा चुका है; वह यह है कि विषुव दिन (जिस दिन रात दिन बिलकुल बराबर हो) के योग से

---

* वेदांग ज्योतिष श्लोक ५. वा आश्वलायन श्रौत सूत्र १२ । १४।१ और २–२–१४–३ वा २२ ।

जिस प्रकार वर्ष के समान दो भाग होते हैं उस ही प्रकार विषुव दिन से ही वार्षिक सत्र के भी समान दो भाग होते हैं।* यह सत्र वर्ष की मानों प्रतिबिम्व अर्थात् चित्र ही है। इस कारण सत्र की वर्ष के साथ सब प्रकार की समता है। परन्तु ऊपर लिखी हुई कल्पना के अनुसार वर्षारम्भ यदि मकर संक्रमण से मान लिया जाय तो विषुव दिन असली विषुव दिन में अर्थात् संपात दिन में न होकर कर्क संक्रान्ति में होगा। परन्तु यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि किसी समय में तो इस शब्द की योजना सत्य होती ही होगी और यह कहना सत्र में यदि लागू न पड़ता हो तो वर्ष में तो लागू पड़ना ही चाहिये। तात्पर्य यह है कि विषुवान् इस शब्द को सार्थ करने के लिये वर्षारम्भ सम्पात से ही होना चाहिये।

अब उत्तरायण शब्द के भी दो अर्थ करते हैं† ! एक तो जो

---

* ऐतरेय ब्राह्मण ४। २२, तैत्तिरीय ब्राह्मण १–२–३–१, ताण्डय-ब्राह्मण ४–७–१।

† सूर्य का उदय स्थान क्षितिज के ऊपर एक स्थान पर नहीं होता यह सब जानते हैं वसन्त ऋतु का जिस दिन आरम्भ होता है उस दिन सूर्य ठीक पूर्व में उगता है और उसके पीछे दिन दिन थोड़ा थोड़ा उत्तर की तरफ सरक कर उगता है और तीन महीने में उत्तर की सीमा पर चला जाता है। और फिर वहाँ से दक्षिण की तरफ चलने लगता है और ६ महीने में दक्षिण की सीमा पर जा पहुँचता है इन छे महीनों को दक्षिणायन और इनके आगे के ६ महीनों को उत्तरायण कहते हैं। यह हुआ पहिला अर्थ। और पूर्व बिन्दु में उग कर उत्तर की सीमा पर पहुँच कर फिर वहाँ से लौट कर पूर्व बिन्दु में उगने लगे उतने काल को उत्तरायण कहते हैं। यह दूसरा अर्थ है।

ऊपर लिखा जा चुका है अर्थात् मकर संक्रमण से लेकर कर्क संक्रमण तक का काल और दूसरा बसन्त सम्पात से लेकर शरत् सम्पात तक का काल है।

पहिले अर्थ के अनुसार सूर्य उत्तर की तरफ चलने लगा कि उत्तरायण आरम्भ हो जाता है। और दूसरे अर्थ के अनुसार उत्तर गोलार्ध में अर्थात् भूमध्य रेखा से उत्तर की तरफ सूर्य जब जाने लगे तब उत्तरायण होता है पहिले अर्थ के अनुसार तो वर्षारम्भ मकर संक्रमण में और दूसरे अर्थ के अनुसार वर्षारम्भ वसन्त सम्पात से मानना चाहिए परंतु वार्षिक सत्र में मध्य के दिन को विषुव दिन कहना, इसी प्रकार वसन्त* को ऋतुओं का मुख कहना, वा आग्रयणेष्टि अथवा अर्धवार्षिकयज्ञ वसन्त वा शरद् ऋतु में आरम्भ करना इन सब बातों का बिचार करने से पहिले लिखे हुए दोनों अर्थों में दूसरा ही अर्थ विशेष रूप से मानने योग्य दीखता है। और ये ही सच्चा और पुराना अर्थ प्रतीत होता है।

वैदिक ग्रन्थों में उत्तरायण का जो वर्णन आया है वह देवयान और पितृयान मार्ग के सम्बन्ध से ही आया है। ऋग्वेद में देवयान और पितृयान शब्द बहुत जगह आये हैं†। किंतु देवयान शब्द का अर्थ कहीं पर भी स्पष्ट रूप से नहीं लिखा। वृहदारण्यक वा छान्दोग्य उपनिषदों में भी देवयान और पितृयान का वर्णन आया है‡। 'अर्चिषोहरन्हआपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्

* तैत्तिरीय ब्राह्मण—मुखंवा एतदृऋतूनां तदृऋतूयद्वसन्त: १-१-२-६।

† ऋग्वेद १—७२—७. वा १०—२—७।

‡ बृहदारण्यक ६। २। १५।

षण्मासानुदङ्ङादित्य इति मासेभ्यो देवलोकं तेषां न पुनरावृत्तिः । धूमाद्रात्रिं रात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षाद्यान् षण्मासान् दक्षिणादित्य इति मासेभ्यः पितृलोकम् ॥ गीता में भी इस ही प्रकार का वर्णन है। अग्निर्ज्योति रहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्. ।* साथ ही आगे 'धूमोरात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् । ऐसा कहा गया है । परन्तु जब तक सूर्य उत्तर की तरफ रहता है वो छै महीने अथवा उत्तरायण के छै महीने इस अर्थ के बतलाने वाले जो शब्द ऊपर आये हैं उनका अर्थ क्या ? सब टीकाकारों के मत से मकर संक्रमण से लेकर कर्क संक्रमण तक के ये छै महीने हैं ऐसा किया है । परन्तु यह अर्थ वैदिक ग्रन्थों के वर्णन से बिलकुल उल्टा है । ऊपर लिखे प्रमाणों के अनुसार उत्तरायण के दोनों ही अर्थ हो सकते हैं । परन्तु शतपथ† ब्राह्मण में देवों के ऋतु और पितरों के ऋतु कहे हैं । 'वसन्तो ग्रीष्मो वर्षा ते देवा ऋतवः । शरद् हेमन्तः शिशिरस्ते पितरो......स यत्र उदगावर्तते देवेषु तर्हि भवति देवांस्तर्ह्यभिगोपायति अथ यत्र दक्षिणावर्तते पितृषु तर्हि भवति पितृंस्तर्ह्यभिगोपायति' ऐसा कहा है । इस प्रमाण से उत्तरायण के अर्थ के विषय में सब शङ्कायें प्रायः मिट जावेंगी । यदि वसन्त ग्रीष्म वा वर्षा ये देव ऋतु हैं वा सूर्य जब उत्तर को जाने लगता है और उस समय वह देवों के बीच में रहता है तो स्पष्ट है कि उत्तरायण

---

* प्रोफ़ेसर भानु के मत से—'अग्निर्ज्योति' इसके स्थान में 'अग्निज्योति' ऐसा पाठ होता तो अच्छा होता । श्रीमद्भगवद्गीता—उपसंहार—भगवद्गीता का अभ्यास पृष्ठ २३ देखो ।

† शतपथ ब्राह्मण २–१–१–३ ।

का आरम्भ वसन्त सम्पात से ही होना चाहिये ।

मकर संक्रमण से उसका आरम्भ होता है यह कहना योग्य नहीं हो सकता है । कारण यह है कि देवताओं का पहला ऋतु जो वसन्त है उसका आरम्भ कहीं भी मकर संक्रमण से नहीं होता । इस कारण देवलोक देवयान किंवा उत्तरायण इसका अर्थ वसन्त सम्पात से शरत् सम्पात पर्यन्त तक का, वसन्त ग्रीष्म वर्षा इन ऋतुओं का छै महीने का समय ही मानना चाहिये ।

इस ही कारण जब तक इसके विरुद्ध कोई प्रमाण न मिलै तब तक प्राचीन वैदिक काल में वर्षारम्भ वसन्त सम्पात में सूर्य के आने पर ही होता था ऐसा मानने में कोई हानि नहीं । और जिस अर्थ के अनुसार इस ही समय सूर्य उत्तर गोलार्ध में जाता है उस अर्थ में उत्तरायण का आरम्भ भी उस ही समय होता होगा । इससे यह स्पष्ट है कि उत्तरायण, वसन्त ऋतु, संवत्सर वा यज्ञ इन सब का आरम्भ भी सूर्य के वसन्त संपात में आने पर ही होता होगा । इसके छै महीने पीछे शरत्संपात में सूर्य के आने पर दूसरा विषुव दिन आता होगा । और इन आगे के छै महीनों को पितृयान वा दक्षिणायन कहते थे। ऊपर एक स्थान पर कहा गया है कि वैदिक काल के अनन्तर के ज्योतिष ग्रंथों में वर्षारम्भ मकर संक्रमण से भी दिया गया है परन्तु यह फेरबदल कब हुआ यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता । इतना अवश्य है कि इस अन्तर के पड़ जाने पर उत्तरायण का अर्थ भी बदल गया । इस कारण वैदिक कथाओं का अर्थ लगाते समय उत्तरायण वा देवलोक अथवा देवयान इन शब्दों का अर्थ अच्छे प्रकार ध्यान में रखना चाहिये । कारण यह है कि प्रसिद्ध

ज्योतिषी भास्कराचार्य जी को उत्तरायण देवताओं का दिन कैसे इस प्रकार की भ्रान्ति हुई थी। कारण उनके समयमें भी उत्तरायण का प्रचलित अर्थ मकर से कर्क संक्रमण पर्यन्त तक का समय था। परन्तु देवताओं का दिवस अर्थात् सूर्य्य जितने समय उत्तर गोलार्ध में रहे उतना काल होता है। ऐसी दशा में उत्तरायण देवताओं का दिन होता था यह जमाव कैसे जमै। इस शंका का समाधान भास्कराचार्य ठीक-ठीक नहीं कर सके और 'तत्फल-कीर्तनाय दिनोन्मुखेऽर्के दिनमेव तन्मतम्' ऐसा कह कर किसी तरह वक्त निकाला है। परन्तु उनको यदि उत्तरायण अर्थात् वसन्त संपात से शरत् संपात तक का समय पहले माना जाता था यह विदित होता तो यह भूल नहीं होती। अस्तु।

इस प्रकार प्राचीन वैदिक समय में वसन्त संपात में वर्षारम्भ होता था परन्तु वर्षारम्भ काल के वश से मकर संक्रान्ति पर आ ठहरा। इस अन्तर के पड़ने के साथ ही साथ उत्तरायण का पुराना अर्थ बदल कर वर्ष के अयन विभाग का वह सूचक बन गया। इतने पर ही समाप्ति नहीं हुई परन्तु वर्षारम्भ के साथ साथ यज्ञ का आरम्भ भी मकर संक्रान्ति पर आ ठहरा। और तैत्तिरीय संहिता में यह अन्तर पूर्ण रूप से देखा जाता है। यदि शतपथ ब्राह्मण में उत्तरायण के विषय में कुछ न लिखा होता तो उत्तरायण शब्द का पुराना अर्थ समझना असम्भव हो जाता।

---

१ गोलाध्याय ७-११-व १२।

तथापि इस पुरानी पद्धति को बिलकुल ही नहीं भूल गये थे। कारण नक्षत्रसत्र के हेतु वसन्त संपात को ही आरम्भ में रखते थे। अब तक भी नर्मदा के दक्षिण की तरफ अपन लोग व्यावहारिक* वर्ष का वसन्त संपात से ही आरम्भ मानते हैं। तथापि उत्तरायण में करने को कही हुई सब धार्मिक विधि मकर संक्रमण से आरम्भ होने वाले उत्तरायण में करते हैं। अर्थात् अब तक अपन दुहेरा वर्षारंभ मानते हैं तथापि प्राचीन आर्यों ने पुरानी पद्धति छोड़ देने के डर से दुहेरी पद्धति स्वीकार कर रक्खी थी इसमें आश्चर्य करने की क्या आवश्यकता है।

अब तक हम ने ऐसा देखा है कि प्राचीन समय में आर्य लोगों का वर्ष नाक्षत्र सौर था और महीने चान्द्र थे और वह वर्षारम्भ वसन्त संपात से माना जाता था। उस ही प्रकार जब इस वर्षारम्भ को बदल कर मकर संक्रमण से मानने लगे तब पहले का वर्षारम्भ भूल में न डाल कर उस का यज्ञकर्म में उपयोग करने लगे तथा अन्य कार्यों में नवीन वर्षारम्भ को मानते थे। अब संपात के चलने से ऋतुचक्र जैसे जैसे पीछे सरकने लगा वैसे वैसे वैदिक ऋषियों ने अपने पञ्चाङ्गों में फेरफार किया था

---

* वास्तव में देखा जाय तो इस समय वसन्त संपात में सूर्य आता है उस समय फाल्गुन का महीना रहता है। और अपने वर्ष का आरम्भ चैत्र से होता है। पांचवीं शताब्दी में नक्षत्रसत्र की अश्विनी से आरम्भ होने की रीति प्रचलित हुई। उस समय वसन्त ऋतु का वास्तव में चैत्र मास में आरम्भ होता था। वर्षारम्भ भी उस ही समय होता था तब से वसन्त संपात यद्यपि पीछे पड़ चुका है तथापि वर्षारम्भ चैत्र में आरम्भ करने की पद्धति वैसी की वैसी स्थिर रही है।

या क्या यह देखना है। वर्तमान समय के अपने पञ्चाङ्ग वसन्त संपात रेवती के चतुर्थ चरण में मानकर बनाये जाते हैं और यद्यपि वसन्त संपात इस समय रेवती से अठारह अंश पीछे सरक आया है; तथापि अपने नक्षत्रमाला का आरम्भ अश्विनी नक्षत्र से ही करते हैं। रेवती पर वसन्त संपात शालिवाहन शक ४९६ के आस पास था और उस समय से ही वर्तमान काल की पद्धति का आरम्भ हुआ है ऐसा मान कर वसन्तसम्पात का स्थान नक्षत्र चक्र में बदलता गया इस विषय में कोई प्रमाण मिलता है या क्या यह अब देखना रहा है। ऊपर एक स्थान में कहा ही है कि वैदिक ऋषियों के आकाश सम्बन्धी वेध नेत्र मात्र से लिये गये थे इस कारण उन वेधों में गणित का अधिक झगड़ा नहीं करना पड़ता है, हमको भी उस ही प्रकार की साधारण रीति को स्वीकार करना चाहिये। सूर्य के अत्यन्त संनिहित तारों का देखना ये ही जिस किसी तारे की गति निश्चय करने का उपाय है उन वैदिक ऋषियों ने क्रान्तिवृत्त के २७ भाग* गणितानुसार किये थे यह सम्भव नहीं। ये २७ भाग मोघम प्रमाण से मुख्य मुख्य तारों के चिन्हों से किये हुए होने

* कुछ सायनवादी इस बात को स्वीकार नहीं करते हैं। अत्यन्त प्राचीन काल में भी नक्षत्रों का समान विभाग था और उनका आरम्भ वसन्त संपात से होता था इस कारण संपात से १३। २० तेरह अंश बीस कला इतने विभाग को अश्विनी और उससे आगे इस ही प्रकार के तेरह अंश बीस कला के विभाग के भरणी आदि नाम थे। परन्तु कैलासवासी शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित ने इस मन्त्र का खण्डन कर उस समय तारात्मक ही नक्षत्र थे ऐसा बतलाया है।

चाहिये। अर्थात् उस समय सूर्य अमुक नक्षत्र में था इस प्रकार के उल्लेख वैदिक ग्रन्थों में मिलें तो उनका अर्थ ये है कि सूर्य उस नाम के नक्षत्र पुञ्ज के समीप था; यह समझना चाहिए। अब यह स्पष्ट ही है कि ऐसे स्थूल वेधों में दो तीन अंशों तक किसी समय भूल हो सकती है। तो भी उस वैदिक काल जैसे पुराने समय का निर्णय करने में बिलकुल निरुपयोगी है ऐसा नहीं है। कारण सूर्य की क्रान्ति वृत्तीय स्थिति में यदि पाँच अंश की भूल रह जाय तो केवल ३६० वर्षों का अंतर अपने हिसाब में पड़ेगा। इतना अन्तर जहाँ काल की संख्या हजारों की संख्या में करना है उस स्थान में नहीं के बराबर कहा जाय तो कोई हानि नहीं। अस्तु। परन्तु अपने आगे के वर्णन में नक्षत्र अर्थात् सम विभागात्मक न समझकर उस उस नाम के नक्षत्र का पुञ्ज समझना चाहिए। अब जैसे वसन्त-संपात-बिन्दु बदलता जायगा वैसे ही अयनान्त बिन्दु भी बदलता जायगा। और इसी कारण वैदिक ग्रन्थों में वसन्त संपात की बदली हुई स्थिति के विषय में कोई लेख मिलै तो उसके अनुरोध से होने वाले अयनान्त के अंतर के विषय में भी उल्लेख मिलना चाहिए। और ऐसे उल्लेख मिल जाँय तो अपने इस अनुमान में अधिक प्रमाण मिल सकेंगे। अब यहां वसन्त संपात की स्थिति के विषय में कौन कौनसे उल्लेख हैं उनका विचार करते हैं। और वह वसन्त संपात कृत्तिका नक्षत्र पर था ऐसा बतलाने वाले वाक्यों का विचार करते हैं।

वराहमिहिर के समय वसन्त संपात रेवती के चतुर्थ चरण पर

* बृहत्संहिता ३–१ या २

था यह सुप्रसिद्ध है। और वराहमिहिर ने अपने ग्रन्थ में दो स्थानों में अपने से प्राचीन ग्रन्थों में वर्णन की हुई अयनान्त बिन्दुओं की स्थितियों के विषय में स्पष्ट उल्लेख किया है। * वह कहता है कि 'सांप्रतकाल में अयन पुनर्वसु के संनिहित से है, पहले आश्लेषा के पास से था'। इस वराह मिहिर के कथन में गर्ग और पराशर के वचनों का, भी प्रमाण है। इस ही प्रकार महाभारत में भीष्माचार्य शरशय्या पर पड़े हुए उदयगयन के आरम्भ होने तक मरण की प्रतीक्षा करते रहे, और यह उदगयन का आरम्भ माघशुक्ल पक्ष में हुआ ऐसा वर्णन है। इसके अनुसार धनिष्ठारम्भ में उदगयन होता था और कृत्तिका पर वसन्त सम्पात होता था यह स्पष्ट है। वेदाङ्ग ज्योतिष में भी यह ही स्थिति दी है। उसमें उत्तरायण धनिष्ठा के आरम्भ और वसन्त सम्पात भरणी के आगे १० अंश पर, दक्षिण अयन आश्लेषा के अर्ध पर वा शरत्संपात विशाखा के संनिहित था इस प्रकार अयन वा संपात की स्थिति दी है। इस पर से ज्योतिषी लोगों ने अयन चलन की मध्यमगति १ वर्ष में ५० विकला और वेदाङ्ग ज्योतिष के अयनादिकों की स्थिति ईस्वी सन् से पूर्व १३०० वर्ष के लगभग मानी है।

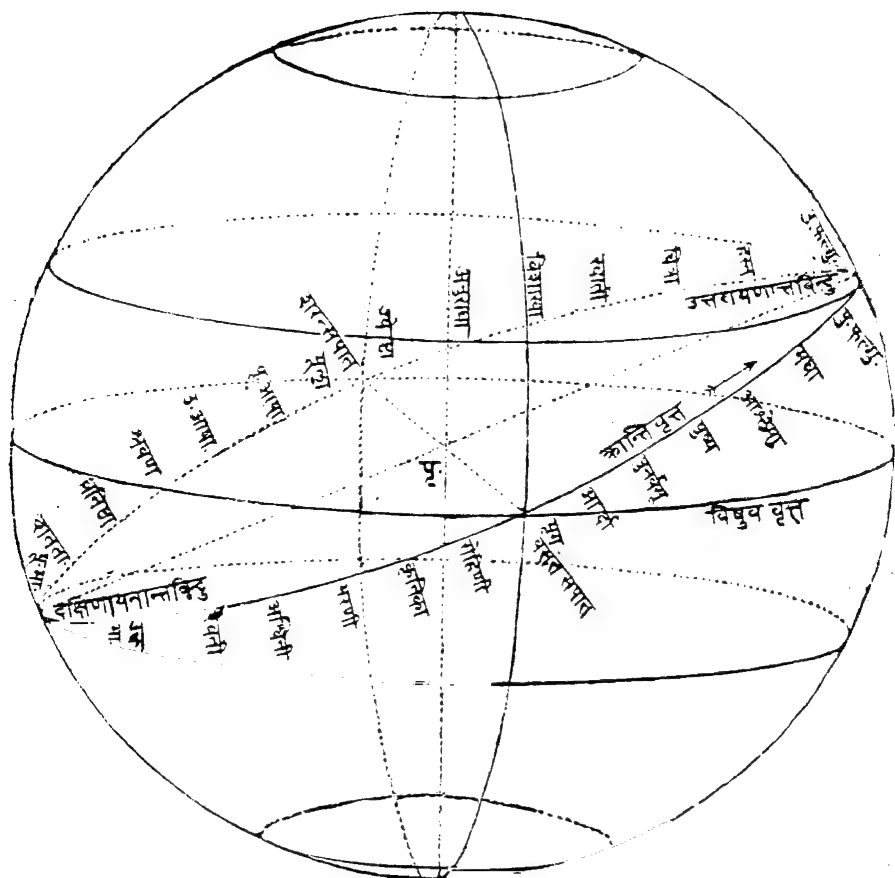
तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण वा दूसरे कई ग्रन्थों में बहुत स्थानों में नक्षत्र चक्र का आरम्भ कृत्तिका नक्षत्र से किया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में ‡ 'कृत्तिका नक्षत्र में अग्न्याधान करना चाहिए,

---

* चित्र देखो।

† वेदाङ्ग ज्योतिष ५

‡ १-१-२-१ वा १-१-२-६.



इस चित्र के मध्य में पृथ्वी है, और उसके चारों ओर क्रान्ति-वृत्त (Zodiac) में सूर्य घूमता है, यह मान कर ही चित्र बनाया गया है। इस पर से वसंत संपात अमुक नक्षत्र में है यह जान लेने पर इस बात का भी पता लग सकता है कि अन्य प्रधान बिन्दु किस नक्षत्र में हैं; साथ ही इससे उत्तरायण का महिना भी जाना जा सकता है।

कारण कृत्तिका नक्षत्रों का मुख है' ऐसा कहा है। इसका अर्थ भी कृत्तिका नक्षत्र से वर्षारम्भ होता था यह स्पष्ट ज्ञात होता है। कारण यह है कि उसही ब्राह्मण में 'मुखंवा एतद् ऋतूनां वसन्तः' अर्थात् वसन्त ऋतु ऋतुओं का मुख है वा वसन्त ऋतु वर्ष में पहला ऋतु है ऐसा कहा है। अर्थात् इन दोनों वाक्यों का एक ही प्रकार का प्रयोग होने के कारण उनका अर्थ भी एक ही रीति से करना चाहिए।

इस ही तैत्तिरीय ब्राह्मण में ❀ ये नक्षत्र देवताओं के मन्दिर हैं उनमें भी देव नक्षत्रों में कृत्तिका पहिला है व विशाखा अन्त्य का है वा यम नक्षत्रों में अनुराधा पहिला है और अपभरणी अन्त्य का है' ऐसा कहा है। पहले एक स्थान पर कहे हुए शतपथ ब्राह्मण के वचन के आधार पर इस तैत्तिरीय ब्राह्मण के वाक्य का अर्थ लगाना चाहिये। अर्थात् शतपथ में कहे हुए दो नक्षत्र विभागों का देवयान वा पितृयान से सम्बन्ध है। तात्पर्य यह है कि कृत्तिका से विशाखा पर्यन्त देव नक्षत्र हैं, और इन नक्षत्रों में जब तक सूर्य रहें तब तक देवयान वा उत्तरायण, और बाकी यम के नक्षत्र हैं और उनको पितृयान मार्ग अथवा दक्षिणायन के समझना चाहिये। ये देव नक्षत्र दक्षिण की ओर चलते हैं और यम नक्षत्र उत्तर की तरफ चलते हैं। अर्थात् सूर्य इन नक्षत्रों में जितने काल रहता है उतने काल वह क्रम से उत्तर वा दक्षिण दिशाओं में रहता है। इस प्रकार वर्तमान काल†के रूप में इसका

❀ १५-२-७

† 'यानि देवनक्षत्राणि तानि दक्षिणेन परियन्ति। यानि यमनक्षत्राणि तान्युत्तरेण' ७। ४। ८

वर्णन है। और इसके हेतु यह वर्णन प्रत्यक्ष देखकर किया गया होगा ऐसा सहज ही समझ में आता है। इस सारे विवेचन से यदि सब बातें यथार्थ हों तो इन वैदिक ग्रन्थों के समय में वसन्त सम्पात के समय कृत्तिका नक्षत्र पर उदगयन का आरम्भ होता था यह अतिस्पष्ट है।

परन्तु तैत्तिरीय संहिता में इससे भी अधिक महत्व का ऐसा स्थल है। उस स्थान पर गवामयन जैसे वार्षिक सत्र के आरम्भ का उत्तम समय कौनसा है इस विषय का विवेचन किया है। उसका सारांश ये है कि—संवत्सर की दीक्षा लेने वाले को एकाष्टका के दिन दीक्षा लेनी चाहिये। एकाष्टका संवत्सर की पत्नी है। अर्थात् एकाष्टका के दिन में दीक्षा लेने वाले संवत्सर के आरम्भ में दीक्षा लेते हैं। परन्तु वो संवत्सर को पीडा के लिये दीक्षा लेते हैं। और उनका अन्तिम नाम वाला ऋतु होता है। और संवत्सर भी उलटा होता है। इस कारण फाल्गुन की पूर्णिमा के दिन दीक्षा लेनी चाहिये। क्योंकि वह संवत्सर का मुख है। और उस दिन में दीक्षा लेने वाले संवत्सर के आरम्भ में दीक्षा लेते हैं। तथापि उसमें १ दोष है वह यह कि उनका विषुवान् मेघयुक्त दिन में आता है। इस कारण चित्रा पूर्णिमासी में दीक्षा लेनी चाहिये। क्योंकि वह संवत्सर का मुख है। इस कारण उस दिन में दीक्षा लेने वाले संवत्सर के आरम्भ में दीक्षित होते हैं। इसमें कोई भी दोष नहीं। पूर्णिमा से पूर्व चौथे दिन दीक्षा लेनी चाहिये। कारण यह है कि उसके योग में एकाष्टका का सोमक्रय होता है। इस कारण वह निष्फल नहीं होती। ये यजमान सत्र करके उठे कि उनके साथ साथ

औषधि और बनस्पतियां भी उठती हैं" इस ही प्रकार का विषय ताण्ड्य ब्राह्मण में भी आया है।* और वहां के शब्द भी थोड़े से अन्तर से ये के ये ही हैं। इसमें जो एकाष्टका शब्द है उसका अर्थ सब मीमांसकों के मत में माघ मास की वुदी अष्टमी है। इस दिन में वार्षिक सत्र का आरम्भ करना चाहिए ऐसा पहले कहा गया है। परंतु उसमें तीन अड़चन हैं। पहली यह कि जिस समय हम ठण्ड से अत्यन्त त्रस्त होते हैं उस समय एकाष्टका आती है। दूसरी यह है कि इस दिन में दीक्षा लेने से यदि वर्षारम्भ में दीक्षा ली ऐसा माना जाय तो ऋतुओं के संवन्ध से देखने पर ये दीक्षा अन्तिम ऋतु में ली जाती है। इसके संबंध में †ताण्ड्य ब्राह्मण में और भी ऐसा लिखा है कि—'वो अवभृत स्थान में जाते हैं तब उनको पानी से आनन्द नहीं होता। इसका कारण यह है कि पानी उस समय अत्यन्त ठन्डा होता है ऐसा टीकाकार कहता है। अब एकाष्टका के दिन सत्रारम्भ करने में तीसरी आपत्ति यह है कि कि संवत्सर उस समय व्यस्त अर्थात् उलटा होता है। इसका अर्थ शवरादिकों ने दक्षिणायनान्त बिंदु से सूर्य माघ की तरफ बदलने से अयन पलट जाता है इस प्रकार से किया है। अब ये आपत्तियां न आवें इस कारण फाल्गुन की पूर्णमासी में दीक्षा लेनी चाहिये ऐसा कहा है। कारण यह है कि ऐसा करने से भी संवत्सर के आरम्भ में दीक्षा लेने के तुल्य हो जाता है। परंतु उसमें भी एक दोष यह है कि विषु-वान् जाड़े के मौसम में आता है और वह अभिलषित नहीं।

* ५-९
† 'तस्य सानियाँ यदपोऽनभिनन्दन्तोऽभ्यवयन्ति (५-९-३)

इस कारण चित्रा पूर्णिमासी में अर्थात् चैत्र शुक्ल पूर्णिमा में दीक्षा लेनी चाहिये ऐसा सूचन किया है। और ऐसा करने से कोई त्रुटि नहीं आती। अर्थात् वर्षारम्भ में दीक्षा लेने के तुल्य होने पर भी ऊपर लिखी हुई कोई त्रुटि इसमें नहीं आती।

परंतु इससे भी उत्तम दूसरा समय कहा गया है। वह पूर्णमासी के पहले के चार दिन हैं। यह समय यदि साधा जाय तो एकाष्टका भी उपयोग होता है। क्योंकि उस दिन सोमक्रय पड़ता है ऐसा लिखा गया है। इसके आधार से पूर्णमास एकाष्टका के पहले का अर्थात् मघापूर्णमास है ऐसा जैमिनि आदि मीमांसकों ने निश्चय किया है, और इसका और बातों से भी मेल बैठता है। सोमाकर ने लौगाक्षी का 'माघ की पूर्णिमा के पहले चार दिन सांवत्सरिक सत्र के लिए दीक्षा लेते हैं' ऐसा वचन एक स्थान में दिया है इससे विदित होता है यह पूर्णिमा माघ की ही होनी चाहिये ऐसा दीखता है। यदि ऊपर लिखा हुआ मीमांसकों का कथन ठीक हो तो इस पर से अपने इस प्रस्तुत विषय में जो अनुमान निकलते हैं वो इस प्रकार है—

तैत्तिरीय संहिता के समय उदगयन का आरम्भ *माघ कृष्णा अष्टमी के पहले बहुत करके माघ की पूर्णिमा का होता होगा। कारण यह है कि अष्टमी को अयन पलट जाता है और पूर्णिमा के पूर्व चार दिन में नहीं पलटता है। ऊपर लिखे हुए तैत्तरीय संहिता के प्रमाण में सत्रारम्भ वर्षारम्भ में ही होना

---

* 'माघ की कृष्ण अष्टमी उत्तर देशों में जहाँ पूर्णिमान्त मास माना जाता है फाल्गुन कृष्ण पक्ष की अष्टमी है।

चाहिये ऐसा कटाक्ष मालुम होता है। और इस ही कारण माघ की पूर्णिमा एक वर्षारम्भ का दिन होना चाहिये। यह वर्षारम्भ उदगयन के आरम्भ से ही होता था। परन्तु एक ही समय पर एक एक महीने के अन्तर से समान तीन वर्षारम्भ होना संभव नहीं। इस कारण से फाल्गुन की पूर्णिमा वा चैत्र की पूर्णिमा ये दो पुराने वर्षारम्भ तैत्तरीय संहिता में कहे हैं। और उस समय विषुवान् का सच्चा अर्थ भूल में पड़ गया था ऐसा स्पष्ट दीखता है।

इस रीति से ऊपर लिखे विवेचन के द्वारा तैत्तरीय संहिता के समय वसन्त संपात कृत्तिका पर था ऐसा बतलाने में प्रबल प्रमाण मिलता है। कारण उदगयनारम्भ माघ की पूर्णिमा को होवै तो दक्षिणायनारम्भ मघा नक्षत्र पर सूर्य के रहने से होना चाहिये। अर्थात् वसन्त संपात कृत्तिका पर होना ही चाहिये। इस रीति से वेदाङ्ग ज्योतिष के सिवाय तैत्तरीय संहिता वा ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलने वाले चार भिन्न भिन्न प्रमाण वचनों से वसन्त संपात कृत्तिका पर था यह स्पष्ट दिखलाया गया।

(१) एक नक्षत्रचक्र का वा उसके अधिष्ठातृ देवता का कृत्तिका नक्षत्र से आरम्भ किया गया है ऐसा बतलाने वाला वचन,

(२) दूसरा कृत्तिका नक्षत्रों का मुख है ऐसा स्पष्ट बतलाने वाला वचन,

(३) तीसरा कृत्तिका से देव नक्षत्रों का आरम्भ होता है यह बतलाने वाला वचन,

(४) चौथा माघ की पूर्णिमा में उदगयनारम्भ होता था

ऐसा स्पष्ट वतलाने वाला सत्रारम्भ के दिन के विषय का विवेचन।

इन सब वचनों में प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष पने से वसन्त संपात का संवन्ध कृत्तिका से लगाया गया है। और इस बात को सिद्ध करने के लिये और प्रमाणों की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

अव कृत्तिका अर्थात् इस नाम का तारकापुञ्ज मान कर तैत्तरीय संहिता का समय ईसवी सन् से पूर्व अनुमान से २३५० वर्ष आता है। परन्तु कुछ यूरोप के विद्वान् इस कृत्तिका नक्षत्र को विभागात्मक समझ कर इस समय को ईसवी सन् से पूर्व १४२६ वर्ष पर्यन्त लाते हैं। परन्तु जो गृहस्थ वैदिक ऋषियों को अयनान्त विन्दु वा संपात विन्दु आदि वातों का सूक्ष्म ज्ञान होना संभव ही नहीं था ऐसा कहते हैं वो ही उन ऋषियों को नक्षत्रों के समान विभाग करने में लगा देवैं यह बड़े आश्चर्य की वात है। ऐसा कहना युक्ति को विलकुल छोड़ कर कहना है। किंतु वैदिक काल की मर्यादा इससे भी पहले अर्थात् २३५० वर्ष से भी पहले वहुत दूर है यह वात सवल प्रमाणों से सिद्ध कर देने पर ऐसी कुशंकाओं को बिलकुल आधार नहीं मिलेगा।

वेण्टले नामक पाश्चात्य विद्वान् ने विशाखा का अर्थ दो शाखा वाला ऐसा करके इसका कारण विशाखा नाम पड़ने के समय संपात के १ याम्योत्तरवृत्त विशाखा के दोनों तारों के ठीक बीच में होकर जाता था ऐसी कल्पना करके वसन्त संपातको समविभा-

---

१. दोनों ध्रुवों में जाने वाले दक्षिणोत्तर वृत्तों को याम्योत्तर वृत्त कहते हैं। ऐसे अनेक वृत्त कल्पना किये जा सकते हैं। उनमें से दोनों संपातो पर जाने वाले जो वृत्त होते हैं वो सांपातिक याम्योत्तरवृत्त कहलाते हैं।

गात्मक कृत्तिका के आरम्भ में लाकर रख दिया है। अब तैत्तिरीय संहिता वा वेदाङ्गज्योतिष इनके उद्गयनारम्भ के समय में केवल १५ दिन का अन्तर है। और इतना अन्तर पड़ने में वसन्त संपात १४ अंश पीछा आना चाहिये। और इस स्थान से समविभागात्मक कृत्तिका ❀ केवल ३ अंश २० कला पर है। अर्थात् बेन्टले का कथन निरर्थक होता है। ये कृत्तिका तारात्मक ही माननी चाहिये। अर्थात् तैत्तिरीय संहिता का समय बेन्टले प्रभृति के मत के अनुसार ईसवी सन् से पूर्व १४२६ वर्ष न रखकर २३५० वर्ष ही रखना चाहिये।

ऊपर लिखे हुए तैत्तिरीय संहिता के संवत्सर सत्र के अनुवाक में चैत्र की पूर्णमासी वा फाल्गुन की पूर्णमासी इस प्रकार दो वर्षारम्भ दिये हैं। परन्तु तैत्तिरीय संहिता के समय उद्गयन के समय माघ के महीने में वर्षारम्भ होता था ऐसा ऊपर दिखलाया गया है। अब चित्रा पूर्णमासी व फाल्गुनी पूर्णमासी इन शब्दों का अर्थ बेवर साहब के कथनानुसार चैत्र वा फाल्गुन महीने न मान कर उस उस महीने की पूर्णिमा का दिन मानना चाहिये। कारण यह है कि एकाष्टका के दिन दीक्षा लेने पर आने वाली अड़चणों को टालने के लिये ये दूसरे दिन बतलाये गये हैं।

❀ एक समविभागात्मक नक्षत्र अर्थात् १३°२० तेरह अंश बीस कला। अर्थात् भरणी के १० दस अंश पूरे होने पर कृत्तिका तीन अंश बीस कला ३°२० ऊपर रहेगी। अर्थात् बेण्टले के कथनानुसार देखें तो तैत्तिरीय संहिता के समय से वेदाङ्गज्योतिष के काल पर्यन्त केवल ३°२० तीन अंश बीसकला इतना ही पीछे आता है। परन्तु वास्तव में वह १४° कम से कम चौदह अंश पीछे आ गया है।

अर्थात् उनका सम्बन्ध नियत दिन के लिये है महीने के लिये नहीं। और यह अर्थ सायणाचार्य समेत सब मीमांसक को सम्मत है।

परन्तु इस चित्रा पूर्णमासी वा फाल्गुनी पूर्णमासी को वर्षारम्भ का दिन मानने में कारण क्या ? सायणाचार्य के मतानुसार देखने से ये दिन वसन्त ऋतु में आते हैं इस कारण इनमें वर्षारम्भ बतलाया गया है। परन्तु तैत्तिरीय संहिता के समय चैत्र और वैशाख† ये दोनों महीने वसन्त ऋतु के थे फाल्गुन और चैत्र नहीं थे। इस अड़चन को दूर करने के लिए सायणाचार्य ने दुहेरी वसन्त की कल्पना की है। एक चान्द्र वा दूसरा सौर। चान्द्र वसन्त में फाल्गुन वा चैत्र डाले हैं, और सौर वसन्त में चैत्र वैशाख डाले हैं। परन्तु ऐसा करने की कोई आवश्यकता नहीं। इसका कारण ये है कि चान्द्रवर्ष और सौर वर्ष का मेल बैठाने के लिए अवश्य उस समय एक अधिक महीना रखते हैं। अर्थात् चान्द्र महीनों का व ऋतुओं का मेल बहुत समय तक नहीं रहता था। परन्तु सायणाचार्य कहते हैं उस प्रकार यदि दुहेरे ऋतु माने जाँय तो फाल्गुन मास वसन्त ऋतु में नहीं आ सकता। सौर वर्ष की अपेक्षा चान्द्रवर्ष लगभग ११ दिन कम होने के कारण और ऋतु सूर्य पर अवलम्बित होने के कारण एक वार चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को वसन्त ऋतु का आरम्भ होवै तो

---

†उस समय वसन्त संपात कृत्तिका पर था इस कारण वसन्त ऋतु का आरम्भ वैशाख में होता था और वास्तव में देखा जाय तो वैशाख और ज्येष्ठ ये दोनों महीने वसन्त ऋतु के थे।

अगले वर्ष वही वसन्तारम्भ चैत्र शुक्ला द्वादशी को होगा। ऐसे होते होते तीसरे वर्ष अधिक मास रखने पर फिर वो चैत्र के महीने में पहले ठिकाने पर ही आ जायगा। इस प्रकार दुहेरी ऋतु रखने से वसन्तारम्भ आगे वैशाख तक चला जायगा, परन्तु फाल्गुन के महीने तक पीछे हटना संभव नहीं। सायणाचार्य के समय अर्थात् चौदहवीं शताब्दी में वसन्त ऋतु का आरम्भ अबकी तरह फाल्गुन के महीने में ही होता था। परन्तु उस समय तैत्तिरीय काल की अपेक्षा उद्गयनका आरम्भ एक महीने से भी कुछ अधिक पीछे हट गया था। इस बात की कल्पना न होने के कारण सायणाचार्य ने परस्पर विरुद्ध दीखने वाले ऊपर कहे हुए वर्षारम्भ की दुहेरी ऋतु कल्पना करके किसी भी तरह एक-वाक्यता करने का प्रयत्न किया है।

परन्तु अब संपात चलन होने से वर्षारम्भ में अन्तर होता जाता है वह समझने पर सायणाचार्य की युक्ति उचित नहीं इस कारण उसको छोड़ देना चाहिये।

सुश्रुत के वैद्यक ग्रन्थ* में 'फाल्गुनचैत्रौ वसन्तः' इस प्रकार एक जगह लिखा है। परन्तु यह भाग उस पुस्तक में किसी ने पीछे से जोड़ दिया होगा ऐसा दीखता है। क्योंकि इस विषय के कुछ ही पूर्व माघादिक मासचक्र वा शिशिरादि ऋतुचक्र कह कर माघ फाल्गुन में शिशिर ऋतु, चैत्र वैशाख में वसन्त ऋतु इत्यादि कहा है। इससे यह प्रतीत होता है कि 'फाल्गुनचैत्रौ वसन्तः', इत्यादि वर्णन पीछे से किसी ने प्रक्षिप्त कर दिया होगा

---

* सूत्र स्थान अध्याय ६.

सुश्रुत और चरक इन ग्रन्थों का सार वर्णन करने वाले वाग्भट्ट ने 'फाल्गुनचैत्रौ वसन्तः' इत्यादि वर्णन का कोई संबन्ध न लाकर इससे पहले कही हुई माघादि मासों की वा शिशिरादि ऋतुओं की पद्धति दी है। इस पर से 'फाल्गुनचैत्रौ वसन्तः' इत्यादि वर्णन वाग्भट के समय में सुश्रुत ग्रन्थ में नहीं होगा, और यदि होगा तो इतना भाग सुश्रुत का ही होगा यह वाग्भट को प्रतीत नहीं हुआ यह स्पष्ट है।

अस्तु। तो अब इन प्रमाणों से तैत्तिरीय संहिता के समय फाल्गुन वसन्त का महीना था ऐसा कहने का कोई प्रमाण नहीं। इस कारण सायणाचार्य का यह अर्थ इस स्थान में तो मान्य नहीं किया जा सकता। इसके सिवाय यह अर्थ कितने ही ब्राह्मण ग्रन्थ व सूत्र ग्रन्थों में आये हुए 'फाल्गुनी पूर्णिमा ये *संवत्सर की प्रथम रात्रि' ऐसे अर्थ वाले वचन के भी विरुद्ध है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में 'उत्तरा फाल्गुनी ये संवत्सर की प्रथम रात्रि है। और संवत्सर के आरम्भ में अग्न्याधान करने वाला पुष्कल संपत्ति वाला होता है ऐसा कहा है। इस ही प्रकार सूत्रकारों ने† भी 'संवत्सर' का आरम्भ फाल्गुनी अथवा चैत्री पूर्णिमा के दिन करना चाहिये। ऐसा स्पष्ट लिखा है‡। अब इन सब वचनों का यदि कुछ अर्थ होता होगा तो फाल्गुन की पूर्णिमा ही वर्ष की पहिली रात्रि है

---

* 'एषा ह संवत्सरस्य प्रथमा रात्रियों फाल्गुनी पूर्णिमासी' श० ब्रा० ६-२. २. १८.

† १-१. २. ८.

‡ आ० श्रौ. सू. १-२. १४. २.

ऐसा वास्तव में एक समय मानते होंगे ये स्वीकार करने के सिवाय कोई दूसरी गति नहीं†।

अब यदि ऊपर लिखे अनुसार 'फाल्गुनी पूर्णिमा संवत्सर का मुख है' इस तैत्तिरीय संहिता के वाक्य का सायणाचार्य का दिया हुआ अर्थ ग्राह्य नहीं तो कौन सा लेना चाहिए। फाल्गुन की पूर्णिमा को वसन्त संपात में वर्षारम्भ होता होगा यह कल्पना ही नहीं की जा सकती। कारण यह है कि इस रीति से वसन्त सम्पात उत्तराभाद्र पर आता है और ऐसी संपात की स्थिति के लिए ईस्वी सन् से पूर्व २०००० वर्ष तक आपको जाना पडेगा। परन्तु उस से कुछ अर्थ नहीं। अब रहा दूसरा रास्ता अर्थात् उस पूर्णिमा को उत्तरायण के आरम्भ में वर्षारम्भ होता होगा यह मानना। माघी फाल्गुनी और चैत्री ये पूर्णिमायें एक ही स्थान पर एक ही काम के लिए बतलाई गई हैं इससे यही अर्थ सच्चा होना चाहिये ऐसा सहज में अनुमान होता है और यह अर्थ बिलकुल स्वाभाविक और युक्ति सिद्ध है। और तैत्तिरीय संहिता के भाष्यकार भास्करभट्ट ने ये ही मत

---

†संपात की पूर्ण प्रदक्षिणा होने में अनुमान से २६००० वर्ष तक गति है। परन्तु क्रान्तिवृत्त की एक प्रकार की उलटी दिशा की गति होने से वह समय २१००० वर्षों का होता है। वर्त्तमान काल में वसन्त संपात पूर्वाभाद्रपद में है। परन्तु 'फाल्गुनी पूर्णिमा यह संवत्सर का मुख है। इस पर से वसन्त संपात उत्तरा भाद्रपद पर होता था यह समझने पर तब से अब तक संपात की १ पूर्ण प्रदक्षिणा होकर दूसरी प्रदक्षिणा का आरम्भ हो गया और वसन्त संपात फिर पूर्वा भाद्रपद पर आ गया है ऐसा मानना पड़ता है और इतनी बात होने को २२००० वर्ष चाहियें।

दिया है। उसके कहे अनुसार फाल्गुनी पूर्णिमा को किसी समय उदगयन में वर्षारम्भ होता होगा। इस मत में वैदिक काल की मर्यादा और २००० वर्ष पीछे जाती है। इस कारण यूरोपीय विद्वान् इस मत को मान्य करने के लिए तैयार नहीं होते। परन्तु जो बात प्रबल प्रमाण से सिद्ध हो जाय उसके योग से कितने ही विद्वानों को पूर्व कल्पित कल्पना में कुछ विरोध भी पड़ै तो वह कल्पना भी इतने ही कारण से कभी नहीं छोड़ देनी चाहिए।

ऊपर कृत्तिका नक्षत्र में वसन्त संपात होता था इस बात को सिद्ध करने के लिए आपने देखा ही है कि नक्षत्र चक्र का आरम्भ कृत्तिका से किया है और दूसरे उदगयन माघ शुक्ल में होता था, तीसरे दक्षिणायन नक्षत्र पितरों के थे, और चौथे शारद संपात के समीप के नक्षत्रों में होकर सांपातिक याम्योत्तर के जाने का संभव है। सारांश ये है कि यदि वर्षारम्भ माघ में होता था ऐसा मान लिया जाय तो उसमें क्रान्ति वृत्त के अयनादि प्रधान बिन्दु क्रांतिवृत्त में अयनादि प्रधान बिन्दुओं के नक्षत्र स्थान संबन्धी स्थान ठीक ठीक मिल जाते हैं इस रीति से वह इस बात को अप्रत्यक्ष पने से सिद्ध करते हैं। अब वैदिक समय में फाल्गुनी पूर्णिमा को उदयगयनारम्भ में वर्षारम्भ होता होगा इस बात को सिद्ध करने के लिए इस ही प्रकार का कोई प्रमाण मिलने योग्य है कि नहीं यह देखना है। ऋतु एक महीना पीछा लाने को स्थूल मान से वसन्त संपात को दो विभागात्मक नक्षत्र पीछे लाना चाहिए। अर्थात् उदगयनारम्भ यदि माघ में न होकर फाल्गुन में होता था तो वसन्त संपात भी कृत्तिका के आगे दो नक्षत्र अर्थात् मृगशीर्ष में आवैगा। इस ही प्रकार दक्षिणायन वा शरत्संपात

क्रम से उत्तरा फाल्गुनी वा मूल इन नक्षत्रों में होगा। इसके लिए संपातादि बिन्दुओं की इस प्रकार की क्रांत्तिवृत्त पर स्थिति दिखलाने का वैदिक ग्रन्थों में क्या प्रमाण है यह अब देखना है।

कृत्तिका की तरह मृगशीर्ष नक्षत्र भी नक्षत्रों के आरम्भ में माना जाता था ऐसा वैदिक ग्रन्थों में स्पष्ट तरह से कहीं पर लिखा नहीं मिलता; तथापि मृगशीर्ष का जो दूसरा नाम आग्रहायण है उस पर से ऐसा दीखता है। आग्रहायण का अर्थ वर्षारम्भ करने वाला है। परन्तु उस नक्षत्रको यह नाम कैसे मिला यह प्रश्न है? कोश कर्ताओं ने व्युत्पत्ति देते समय मार्गशीर्षी पूर्णिमा को वर्ष की प्रथम रात्रि होने के कारण आग्रहायणी कहा है। और आग्रहायणी में पूर्ण चन्द्र मार्गशीर्ष में होता है इस कारण मार्गशीर्षको आग्रहायण नाम भी इस ही से मिला ऐसा कहते हैं। यह ठीक है। परन्तु वो यह और कहते हैं कि अमरकोश में कहे अनुसार मार्गशीर्ष का अग्रहायणी नाम है। कारण उस नक्षत्र पर चन्द्रमा के आने से पहले वर्षारम्भ होता होगा। परन्तु यह कहना ठीक नहीं। कारण नक्षत्र पर से पूर्णमास को नाम देने की रीति अब की है। अर्थात् आग्रहायणी संवन्ध से ही पूर्णमास पर से नक्षत्र को नाम मिलता है यह कहना ठीक नहीं। पाणिनि महर्षि के मतानुसार भी इस उलटी पद्धति को कुछ आधार नहीं मिलता। पाणिनि ने आग्रहायणी शब्द पर से आग्रहायणिक ऐसा महीने का नाम दिया है। आग्रहायणी इसका अर्थ उनके मत से मृगशीर्ष नक्षत्र न होकर मार्गशीर्ष की पूर्णिमा होना चाहिये ऐसा मालुम होता है। इसमें कारण यह है कि महीनों के नाम पूर्णमासी के हिसाब से होने चाहिये ऐसा उनका मत है। आग्र-

हायणी शब्द जो पूर्णमास वाचक है वह पाणिनि ने चैत्री आदि शब्दों की तरह माना या क्या; यह ठीक समझ में नहीं आता। परन्तु कार्तिकी आदि शब्दों की तरह तुल्य होने के कारण अग्रहायण शब्द से आग्रहायणी शब्द सिद्ध किया गया है और अग्रहायण यह मृगशीर्ष नक्षत्र का मूल का नाम हो यह संभव है। इस शब्द की व्युत्पत्ति में मतभेद बहुत है। परन्तु उन सब ही मतों के मूल में मार्गशीर्षी पूर्णिमा को पहले कभी वर्षारम्भ होता होगा और उस पूर्णिमा के नाम पर ही मृगशीर्ष नक्षत्र का आग्रहायणी नाम पड़ गया ये कल्पना साधारण है यदि इस कल्पनाको हटा दिया जाय तो इस शब्द के संबन्ध में सब अड़चनें दूर भी हो जाती हैं। इसके सिवाय इस कल्पनाको सच्ची मानने के लिये वेद में वा पाणिनीय व्याकरण में कोई आधार भी नहीं है। पाणिनि का लक्ष्य मृगशीर्ष का अग्रहायण नाम रख कर पूर्णिमा को आग्रहायणी और उस पर से मार्गशीर्ष महीने का आग्रहायणिक नाम सिद्ध करना है। नक्षत्रवाचक अग्रहायण शब्द इस समय प्रचार में नहीं है। अमरसिंह ने अग्रहायणी शब्द नक्षत्रवाचक दिया है। परन्तु इस पुराने शब्द के अर्थ को बदल देने में एक अमरसिंह (अमरकोष का कर्ता) ही दोषभागी हो यह बात नहीं है। मार्गशीर्ष की पूर्णिमा संवत्सर की पहली रात्रि थी इस कल्पना से आगे के ग्रन्थों में और भी बहुत सी भूलें पड़ गई हैं।

अब मार्गशीर्ष की पूर्णिमा में वर्षारम्भ होता था ऐसा मान लिया जाने पर क्या क्या नई बातें उत्पन्न होती हैं यह देखना है। ऐसा मानने में प्रत्यक्ष प्रमाण 'मासानां मार्गशीर्षोऽहं ऋतूनां कुसु-

माकरः ।"[1] इस श्रीमद्भगवद्गीता के वचन के सिवाय और कुछ नहीं है । आनन्दगिरि ने इस भगवद्गीता के वचन पर शांकर-भाष्य की टीका में मार्गशीर्ष महीना समृद्धि का होता है इस कारण उस महीने को विभूति वाला वर्णन किया गया है ऐसा माना है। परंतु यह कारण समाधान करने वाला नहीं मालुम होता । संदर्भ देखते हुए मार्गशीर्ष वर्षारम्भ का महीना है; कहने का यह आशय स्पष्ट दीखता है । सूर्य पण्डित नाम के एक ज्योतिषी ने अपनी परमार्थप्रपा नाम की भगवद्गीता की टीका में [2]कहा है कि मार्गशीर्ष का दूसरा नाम आग्रहायणिक है । और उस महीने की पूर्णिमा संवत्सर की पहली रात्रि थी । ऐसा अर्थ मानने से भगवद्गीता के ऊपर लिखे वचन में आग्रहायणिक शब्द अशुद्ध व्युत्पत्ति पर लिखा गया होगा ऐसा विदित होता है। यदि इस शब्द की व्युत्पत्ति उत्तम रीति से की जाय तो फिर इस प्रकार की गड़-बड़ होना संभव नहीं । अग्रहायण शब्द साधित शब्द होने के कारण इस नाम का महीना वर्षारम्भ में माना जाना संभव ही नहीं । परंतु उस समय अग्रहायण अर्थात् मृगशीर्ष ये पहिला नक्षत्र है यह कल्पना बिलकुल नहीं सी हो चुकी थी और मार्ग-शीर्ष का महीना ही वर्षारंभ का महीना था ऐसा मानने लगे; और इस नवीन कल्पना को एक बार गीता में स्थान मिलजाने पर उसकी

---

१ श्रीमद्भगवद्गीता १० । ३५

२ 'यद्वा मृगशिरः पूर्णिमासंबन्धेन वर्षादिरभिहितस्तस्मिन्नेवाग्रहायणीत्यभिधानात् । आग्रहायणं यस्यां साग्रहायणी । अत एव आग्रहायणिक इति मार्गशीर्षनाम । अतोऽस्य मासस्य मुख्यत्वाद्विभूतिमत्त्वम् ।

जल्दी ही सब जगह प्रसिद्ध होगई और विद्वानों ने अपना मत भी वैसा ही बना लिया।

इस भूल की कल्पना को और और विद्वानों ने ही माना हो ये बात नहीं है किंतु ज्योतिषी लोगों ने भी वैसा ही किया। अब देखना चाहिए कि उसका परिणाम क्या हुआ। पुराने ज्योतिष ग्रन्थों में उत्तरायण होने से वर्षारम्भ माना जाता था। अर्थात् वर्ष का पहिला महीना वह ही उत्तरायण का भी पहिला महीना होता था। ऐसे अवसर में मार्गशीर्ष मास की पूर्णिमा को संवत्सर की प्रथम रात्रि कही जाय तो स्वाभाविक रीति से उस दिन में उत्तरायण का आरंभ हुआ यह ज्योतिषी लोग समझेंगे। और फिर दक्षिणायन*बिन्दु मृगशीर्ष नक्षत्र पर आवेगा और वसन्त संपात उससे पीछे ९० अंश पर आवेगा। सूर्य-सिद्धांत में मृगशीर्ष के विषुवांश रेवती के नक्षत्र से ६३ अंश पर दिये हैं। इस कारण मृगशीर्ष नक्षत्र से ९० अंश पीछे अर्थात् रेवती से २७ अंश पीछे वसन्त संपात आया। परन्तु वैदिक ग्रन्थों में नक्षत्रारम्भ कृत्तिकासे होकर माघ के महीने में उत्तरायण होता था ऐसा कहा है। इस हिसाब से उस समय वसन्त संपात रेवती से २७ अंश आगे अवश्य था। अब इन दोनों बातों का जो

---

* मृगशीर्ष नक्षत्र पर जिस दिन पूर्ण चन्द्रमा हो वह मार्गशीर्षी पूर्णिमा होती है। पूर्णिमा के दिन सूर्य और चन्द्रमा आमने सामने अर्थात् एक से एक का अन्तर १८० अंश का होता है। अर्थात् मार्गशीर्ष की पूर्णिमाको सूर्य मृगशीर्ष नक्षत्र से १८० अंश पर होगा। अब यदि उस दिन नवीन पद्धति से उत्तरायण शुरू होता है ऐसा माना जाय तो अर्थात् वसन्त संपात मृगशीर्ष से पीछे ९० अंश पर आता है। (चित्र देखो)

परस्पर विरुद्ध हैं मेल कैसे बैठे ! वेद भी झूंठे नहीं और गीता भी झूंठी नहीं। दोनों ही तुल्य प्रमाण हैं। और दोनों में ऐसा विरोध यह अति अचम्भे की बात है। इस को मिटाने के लिये ही हमारे ज्योतिषियों ने संपात के इधर से उधर और उधर से इधर आन्दोलन की अर्थात् यह संपात क्रान्तिवृत्त की पूरी प्रदक्षिणा न करके रेवती के आगे २७ अंश तथा पीछे २७ अंश झूलता है ऐसी कल्पना लड़ा कर ऊपर लिखे विरोध को मिटा दिया। वर्तमान काल के ज्योतिषियों ने यह कल्पना गणितशास्त्र के नियम से विरुद्ध पड़ती है ऐसा सिद्ध किया है; परन्तु इस कल्पना को भारतीय ज्योतिष ग्रन्थों में स्थान किस प्रकार मिल गया इसका दूसरा कोई युक्तियुक्त कारण आज तक किसी ने नहीं बतलाया[1]। बेण्टले और ह्विटने इन दोनों यूरोप के विद्वानों ने इस आन्दोलन की सीमा रेवती से आगे २७ अंश पर, अर्थात् कृत्तिका पर सूर्य के रहने से वर्षारम्भ होता था इस बात पर से ही ठहराई होगी। परन्तु इतनी ही बात इस आन्दोलन की कल्पना उत्पन्न होने के लिये पूरी नहीं। रेवती के दोनों तरफ २७ अंश पर वसन्त संपात होता था इस बात को निश्चय रीति से समझे बिना हमारे ज्योतिषियों ने आन्दोलन की कल्पना नहीं आविष्कृत की। इस कारण इस कल्पना का ऊपर लिखा कारण ही सत्य होना चाहिये। अस्तु।

अब दूसरी रीति से मार्गशीर्ष की पूर्णिमा को उत्तरायण में वर्षारम्भ होता था ऐसा मान लिया जाय तो ऊपर बत-

---

१. शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित ने भारतीय ज्योतिष-शास्त्र पृष्ठ ३३२ में ये ही कारण दिये हैं।

लाई हुई बिना टाले जाने योग्य अडचणें आती हैं । अर्थात् यह कल्पना भी हम को बिलकुल छोड़ ही देनी चाहिये । रेवती से पीछे वसन्त संपात २७ अंश पर होने के लिये हम को वर्तमान में चलू संपात की प्रदक्षिणा के आरम्भ में कम से कम जाना चाहिये । अथवा अनुमान से ६०० छैसौ वर्ष और बाट देखनी चाहिये । अर्थात् ऐसे निरर्थक अनुमान जिससे निकलते हैं ऐसी बातों को ही हमको छोड़ देना चाहिये । अब 'मार्गशीर्ष की पूर्णिमा वर्ष की प्रथम रात्रि है इस वचन का दूसरा भी कोई अर्थ हो नहीं सकता । इस दिन उत्तरायणः होता था ऐसा अर्थ मान लेने पर क्या परिणाम होता है यह अभी आपने देख ही लिया । अब यदि वर्षारम्भ रखने की दूसरी प्रक्रिया अर्थात् वसन्त संपात के पास की है उससे देखने चलें तो 'मार्गशीर्ष में वसन्त संपात आने के लिये वह संपात अभिजित् नक्षत्र में होना चाहिये । अर्थात् हम को वह इस्वी सन् से पूर्व २०,००० वर्ष दूर ले जाना चाहिये । परन्तु ये बिलकुल असंभव है । इस सब विवेचन से आग्रहायणी का प्रचलित अर्थ लेकर नहीं चलना चाहिये यह स्पष्ट है । अब रहा यह अर्थ कि इस नाम के नक्षत्र पर सूर्य के रहने से वर्षारम्भ होता होगा; तो इस नक्षत्र का नाम अग्र-हायण हो आग्रहायणी हो अथवा अग्रहायणी हो । यह नक्षत्र वर्ष भर में प्रथम था; इतना ही अपने इस विषय का प्रधान प्रश्न है । अब हम आगे इस अग्रहायण शब्द का *मृगशीर्ष नक्षत्र ऐसा

---

*मार्गशीर्ष की पूर्णिमा को वसन्त संपात आता था अर्थात् इस दिन में सूर्य वसन्त संपात में आया करता था ऐसा मानना चाहिए । अर्थात्

अर्थ मानकर चलेंगे। अस्तु। तौ फिर फाल्गुन में उत्तरायण हुआ अर्थात् उसके संबन्ध से वर्षारम्भ मृगशीर्ष उर्फ आग्रहायण में होगा। अर्थात् माघ में उत्तरायण होने से जिस प्रकार वसन्त संपात कृत्तिका में होता है उस ही प्रकार इसमें भी मानना चाहिए। इस प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण के 'फाल्गुनी पूर्णमासी संवत्सर का मुख है' इस वचन को आग्रहायण में बची हुई बातों से पुष्टि मिलती है। मृगशीर्ष में वसन्त सम्पात हुआ तो शारद संपात मूल नक्षत्र पर आता है। और यह भी सम्भव है कि कदाचित् मूल नक्षत्र का नाम भी इस बात से ही पड़ा होगा। कारण यह कि उस समय वर्षारम्भ में सूर्यास्त के होते ही उगने वाला नक्षत्र मूल ही होगा। यह मूल शब्द की व्युत्पत्ति भी किसी अंश में मृगशीष नक्षत्र पर वसन्त संपात था; इस बात को दिखलाने में उपयोगी होगी।

पहले यह कहा जा चुका है कि वर्ष के दो अयन उत्तर तथा दक्षिण इन शब्दों के वैदिककाल के अर्थ तथा पीछे के अर्थ में भेद है। वैदिक काल में सूर्य के उत्तर गोलार्द्ध के काल को उत्तरायण कहते थे। परन्तु बाद में उसका अर्थ मकर से कर्क संक्र-

---

वसन्त संपात मृगशीर्ष नक्षत्र के आगे या पीछे १८० अंश होना चाहिए यद्यपि अभिजित् नक्षत्र का क्रान्तिवृत्त से कोई संबन्ध नहीं है। यद्यपि सब नक्षत्र क्रान्तिवृत्त में ही हैं तथापि अभिजित् पर जाने वाला याम्योत्तरवृत्त मृगशीर्ष नक्षत्र से १८० अंश पर होकर जाता है। इस हेतु से और क्रान्ति वृत्त पर आस पास में दूसरी कोई मोटी तारा न होने से अभिजित् पर वसन्त संपात होता था ऐसा कहा है। वास्तव में अभिजित् के तारे पर वसन्त संपात आ नहीं सकता।

मण तक का काल यह हो गया। अर्थात् पहले पितृयान † अर्थात् वर्तमान काल के दक्षिणायन का आरम्भ कर्क संक्रमण से होता था। उदगयन फाल्गुनी पूर्णिमा को हुआ इसका तात्पर्य यह है कि दक्षिणायन किंवा पितृयान भाद्रपद की पूर्णिमा को होगा। अर्थात् भाद्रपद का कृष्णपक्ष यह पितृयान का पहला पखवाड़ा हुआ। इस कारण से उसको विशेष रूप से पितरों का पखवाड़ा उर्फ़ पितृपक्ष यह नाम मिला। आज भी हम इसी पक्ष में पितरों का विशेष श्राद्ध करते हैं। भाद्रपद के कृष्णपक्ष को पितृपक्ष ये नाम क्यों मिला इसका कारण किसी ने आज तक नहीं बतलाया। परन्तु फाल्गुनी पूर्णिमा को वर्षारम्भ होता था इस संहितावचन का ठीक अर्थ लेने से अर्थात् उस पूर्णिमा को उत्तरायण का आरम्भ होता था ऐसा करने से इस बात का अत्यन्त सहज रीति से अर्थ लग जाता है। अर्थात् उस समय दक्षिणायन का आरम्भ भाद्रप्रद की पूर्णिमा को होता था और उसका पहला पक्ष पितृयान का पहला पखवाडा कहलाया।

यह बात और है कि हमारा ही पितृपक्ष भाद्रपद में होता है यह बात नहीं है, पारसी लोगों का भी पितृपक्ष तब ही होता है। ये बात बड़े महत्त्व की है। कारण यह है कि जिस पुरानी बात का हम विचार कर रहे हैं उस समय भारतीय, ईरानी और हेलनिक आर्य‡ ये सब एक ही थे। अब यदि हमारी यह उपपत्ति सच्ची हो तो उसको इन आर्य लोगों की निराली निराली शाखाओं की चलू रीतियाँ और दन्तकथा आदि बातों से बहुत कुछ प्रमाण

† पितृपक्ष महालय श्राद्ध।

‡ 'ग्रीक'

मिलेंगे। मृगशीर्ष नक्षत्र पर वसन्त संपात था ये बतलाने को इस प्रकार के बहुत से प्रमाण हैं यह आप आगे देखेंगे। अभी आप प्राचीन अवेस्ता (पारसी जाति का धर्मग्रन्थ) के पञ्चाङ्ग के विषय में डाक्टर गिइगर के किये हुए अनुमानों का थोड़ा विचार करें। उनने 'मध्ययों' ※ अर्थात वर्षका मध्य इस शब्द को आधार मानकर इस पर से प्राचीन अवैस्तिक पञ्चाङ्गों में वर्ष का आरम्भ दक्षिणायन से होता होगा ऐसा अनुमान किया है। यह बात हमारी उपपत्ति से बिलकुल मिलती है। पारसी लोगों ने ऐसी प्रत्येक बातों में हमसे बिलकुल उलटा मत स्वीकार किया है। अर्थात् हमारा वर्षारम्भ यदि उत्तरायण में होता है तो उनका उससे विपरीत अर्थात् दक्षिणायन में होना चाहिए और वास्तव में होता भी वैसे ही है। पारसियों और हिंदुओं के पञ्चाङ्ग में इतना ही मेल है यह बात नहीं है। ऊपर कहा जा चुका है कि दोनों का पितृपक्ष भाद्रपद में एक ही समय आता है। पारसी लोगों का पहिला महीना फ्रवशिनम् अर्थात् पितृमास है। और उसका आरम्भ दक्षिणायन से होता है। इस महीने से चौथा महीना 'तिष्ट्य् है' किंवा 'तिष्ट्य्' का महीना मानते हैं। ये तिष्ट्य् नक्षत्र को 'सीरिअस'† के तारों को मानते हैं; और भाद्रपद के महीने से गिनने पर चौथा महीना मार्गशीर्ष अर्थात् मृगशीर्ष का महीना आता है। और मृगशीर्ष वा सीरिअस बहुत पास-पास हैं। इस ही प्रकार से

※ 'मध्ययों' वा अंग्रेज़ मिडईयर (Midyear) इन दोनों शब्दों की तुल्यता है।

† व्याध का तारा.

फ्रवशिनम् महीने में दक्षिणायन पर वर्षारम्भ यदि रक्खा जाय तो 'दथुषो' महीने का आरम्भ ठीक वसन्त संपात पर आता है। यह 'दथुषो' महीना सृष्टिकर्ता 'अहुरमज्द' का है। इससे जाना जाता है कि किसी समय 'दथुषो' महोने में वर्षारम्भ होता होगा। इस प्रकार पुराने 'अवैस्तिक' पञ्चाङ्गों में वसन्त संपात में आरम्भ होने वाले वर्ष के चिह्न कुछ मिलते हैं। ये वर्षारम्भ का विषय तथा दोनों के पितृपक्ष का एक होना केवल काकतालीय न्याय से हो यह संभव नहीं। और यद्यपि पारसी लोगों का वर्षारम्भ उत्तरायण से दक्षिणायन में चला गया परन्तु पितृपक्ष जैसी पवित्र बात जो पूर्वकाल से चली आती थी उस को बदलना उचित नहीं समझा। इस ही कारण आज भी दोनों का पितृपक्ष एक ही है।

इस प्रकार तैत्तिरीय संहिता वा अन्य ब्राह्मणग्रन्थों में प्राप्त हुए 'फाल्गुनी पूर्णमास वर्ष का मुख है' इस वचन का साधारण अर्थ अर्थात् उस दिन उत्तरायण होता था ऐसा अर्थ लेने पर, और मृगशीर्ष वाचक आग्रहायण शब्द का वर्षारम्भ करने वाला ऐसा सच्चा अर्थ लेने पर इस मृगशीर्ष नक्षत्र पर वसन्त संपात था यह स्पष्ट है। पितृपक्ष के समय पर से भी यह दीखता है, और उस ही समय पारसी लोगों का भी पितृपक्ष आता है इस बात पर से भी ऊपर लिखी बात पुष्ट होती है। कृत्तिका नक्षत्र पर वसन्त संपात था यह बात इसी प्रकार के प्रमाणों से ऊपर सिद्ध की जा चुकी है; उस ही प्रकार मृगशीर्ष नक्षत्र के सम्बन्ध में भी इस प्रकार के अनुमान करने में कोई हानि नहीं मालुम होती। मृगशीर्ष नक्षत्र से नक्षत्रचक्र का आरम्भ होता था; इसका स्पष्ट प्रमाण तो यद्यपि नहीं मिलता है परन्तु यह बात माननी ही पड़ै;

इस प्रकार की कुछ बातें आगे के वर्णन में आवेंगी उन से इस अनुमान में कोई भी शङ्का न रह जाती है।

आकाश के जिस भाग में मृगशीर्ष नक्षत्रपुञ्ज है वह भाग सारे आकाश में देखने लायक है। किसी ऐसी रात्रि में कि जिसमें आकाश बिलकुल साफ हो इस मृगशीर्ष नामक तारापुञ्ज के मनोहर स्वरूप को तरफ देखने वाले का चित्त आकर्षित हुए बिना नहीं रह सकता। फिर प्राचीन आर्यों का तो; उनके समय में इस ही आकाश के विभाग पर वर्षारम्भ में सूर्य का उदय होने के कारण से; यह विभाग अत्यन्त ही मानोवेधक हुआ होगा। इस तारापुञ्ज में व्याध के साथ पांच तारे पहली प्रति के अर्थात् मोटे मोटे चमकीले हैं। और दूसरी प्रति के तो बहुत से हैं और एक तरफ आकाशगङ्गा है। इस आकाश के प्रदेश में प्राचीन कवियों की बुद्धि को कल्पना करने का अच्छा अवकाश मिला। इस नक्षत्रपुञ्ज पर कितनी कितनी कथाएं प्राचीन आर्यों में चल पड़ीं; उनमें से कुछ कथाओं का परीक्षण करके उस पर से अपनी उपपत्ति में कुछ प्रमाण मिलता है कि नहीं यह अब देखना है। अपनी उपपत्ति के द्वारा यदि उन प्राचीन आर्यों के आज तक किये हुए अर्थ से और अधिक अच्छा अर्थ लग जाय तो हमारी उपपत्ति को सच्चा मानने में एक प्रबल हेतु मिल जायगा। परन्तु इस परीक्षण के करने के पहले प्राचीन ग्रन्थों में वर्णन किये हुए मृगशीर्ष नक्षत्र और उसका कल्पना किया हुआ आकार निश्चय करने का थोड़ा प्रयत्न करना है।

मृगशीर्ष इस नाम से उस तारकापुञ्ज के आकार की कल्पना सहज होगी। परन्तु इस पुञ्ज में अनेक तारे होने के

कारण इस की आकारकल्पना में कौन कौनसी बात लेने की हैं यह कहना कुछ कठिन है। शीर्ष शब्द से सारा मृग आकाश में होगा यह नहीं दीखता।

'रुद्रने प्रजापति को बाण से बेध दिया' इस शतपथ* ब्राह्मण की कथा के संबंध में सायणाचार्य अपने भाष्य में लिखते हैं कि— †'रुद्र ने प्रजापति का शिर बाण से काट दिया और वह बाण वा शिर दोनों ही अन्तरिक्ष में जाकर नक्षत्र रूप से दीखते हैं।' ऋग्वेद में शीर्षच्छेद के विषय का इस ही प्रकार का वर्णन तो नहीं किंतु प्रजापति की कथा अवश्य दी है। दूसरे स्थान पर ऋग्वेद में इन्द्र ने वृत्र का शिर काट डाला और वृत्र मृग का रूप धारण करके दीखा इस प्रकार के वर्णन हैं। इससे विदित होता है कि ऋग्वेद में भी मृग के शीर्ष का ही वर्णन है। ग्रीक लोगों के पुराणों में भी यह बात आई है। वह इस प्रकार है कि 'अपालो' देवता ने अपनी बहन 'ओरायन' पर प्रीति करती है यह देख कर क्रोध से समुद्र के बीच की एक वस्तु को बाण से छिदा डाला, और वह वस्तु ओरायन का ही शिर था ऐसा मालुम हुआ। अब आप को बाण से छेदा हुआ मृग का शिर कहाँ है सो देखना चाहिये। अमरसिंह ‡ ने मृगशिर के ऊपर के तीन तारों को 'इन्वका' नाम दिया है। परन्तु कई सज्जनों के मत से ओरायन नाम पुञ्ज

* शतपथ ब्राह्मण २-१-२-८.

† 'इषुणा तस्य शिरश्चिच्छेद……………………इषुः शिरश्चेत्युभयमन्तरिक्षमुत्प्लुत्य नक्षत्रात्मनावस्थितं दृश्यते।

‡ 'मृगशीर्षं मृगशिरस्तस्मिन्नेवाग्रहायणी।
इन्वकास्तच्छिरोदेशे तारका निवसन्ति याः॥

के शिरो भाग में जो छोटे छोटे तीन तारे हैं उनको मृगशीर्ष यदि समझा जाय तो मृगशीर्ष वा इन्वका ये दोनों एक ही होते हैं। अर्थात् अमर का दिया हुआ भेद निरर्थक होता है। इस कारण पूरे मृग की आकृति इस पुञ्ज में है यह न समझ कर केवल शिर से बिधा हुआ मस्तक ही है यह समझना चाहिये। ऐसा समझ लेने पर इस आकृति का निश्चित कर लेना कठिन नहीं। कारण यह है कि ऊपर की बात में जो बाण आया है वह ओरायन के पट्टे में तीन तारों का है। इस पुञ्ज में दूसरी और भी कितनी ही आकृतियों की कल्पना की गई होगी। सारा मृग का शरीर और यज्ञोपवीत धारण करने वाला प्रजापति इस आकृति की यह कल्पना की गई है। परंतु इन सब कल्पनाओं में मृग के शीर्ष की कल्पना सब से पुरानी दीखती है। और उस ही कल्पना पर से बढ़ते बढ़ते दूसरी और और कल्पनायें भी निकलीं ऐसा मालुम होता है। इस विवेचन में मृगशीर्ष नक्षत्र ओरायन-पुञ्ज में है ऐसा हमने मान लिया है। यद्यपि इस विषय में कई विद्वानों ने शङ्का भी की है तथापि इस में कुछ भी असंभव बात नहीं दीखती। कारण यह है कि रमणीय रोहिणी के तारे के पीछे साथ ही आनेवाला और दुष्ट चरित्रवाला प्रजापति; रुद्र के तीन कांड वाले धनु से बिधकर पड़ा हुआ, और वह बाण उसके मस्तक में अटका हुआ अब तक दीखता है। इस कथा से तारका-पुञ्ज के संबन्ध में तो शङ्का रहने का संभव ही नहीं है।

इस प्रकार मृगशीर्ष की आकृति आरम्भ में कैसे कल्पित हुई होगी यह जान लेने पर और दूसरे नक्षत्रों का निश्चित करना कठिन नहीं। रोहिणी के संबन्ध में कोई शङ्का है ही नहीं। रुद्र आर्द्रा नक्षत्र

का देवता होने के कारण उसका स्थान अर्थात् आर्द्रानक्षत्र अथवा ओरायन का दाहिना स्कन्ध है। परन्तु ऐतरेय ब्राह्मण* में जिसको हम आज मृगव्याध कहते हैं उसको रुद्र नाम से कहा गया है। आकाश-गंगा का उस समय कोई विशेष नाम होगा सो नहीं दीखता। पारसी, ग्रीक, और भारतीय आर्य इन तीनों ही जातियों का आकाश-गंगा के लिए कोई साधारण नाम अर्थात् जिसका तीनों ही जातियों में एक ही नाम किसी बिगड़े सुधरे रूप में हो, नहीं मिलता। परन्तु उस समय आकाश-गंगा को तरफ लोगों का खयाल ही नहीं था यह तो नहीं कहा जा सकता। ग्रीक ज्योतिष में इस गंगा के दोनों तरफ कैनिस† मेजर वा कैनिस मायनर इस नाम के दो कुत्ते हैं। ये नाम बहुत प्राचीनकाल से हैं क्या? इस विषय में कई सज्जनों को शंका है। परन्तु प्लूटार्क के लिखने मुजिब कैनिस, ओरायन, व अर्सा, ये तीनों पुञ्ज ग्रीक लोगों को बहुत पहले से मालूम थे यह स्पष्ट दीखता है। इसमें कारण यह है कि वह कहता है कि 'जिन पुंजों को इजिप्शियन लोग एसिस हार्न्स व टायफान् कहते हैं उनको ग्रीक लोग क्रम से कैनिस ओरायन् वा अर्सा कहते हैं।' इस प्लूटार्क के कथन से ये तीन पुंज मूल में इजिप्शियन् वा खाल्डियन् नहीं ऐसा सिद्ध होता है। इनमें अर्सा नाम का पुंज वेदों के सप्तऋक्ष वा पार्सियों के हेप्टो-इरिंग थे। इसके अनुसार प्लूटार्क का कैनिस के विषय में जो कथन है वह भी सत्य सिद्ध होता है। अर्थात् कैनिस ओरायन्

---

*'ऐतरेय ब्राह्मग' ३–३३।

†बड़ा कुत्ता वा छोटा कुत्ता।

व असी ये तीनों पुञ्ज आरम्भ में आर्यों के ही हैं इसमें कोई संशय नहीं।

अब यदि ये तारकापुंज मूल में आर्यों के ही हैं तो आर्य जाति की तीनों शाखाओं में इन पुजों के बारे में कुछ-कुछ तुल्य कथाएँ होनी चाहिए। वेदों में देवयान वा पितृयान की कल्पना बहुत प्रसिद्ध हो गई थी ऐसा कहा जाय तो कोई हानि नहीं। ये कल्पना विशेष कर दिन वा रात्रि प्रकाश वा अन्धकार से बनी होगी। वेदों में पितृयान अर्थात् आकाश के बिलकुल नीचे के भाग का अथवा जिसमें अपार समुद्र है और जहां पर वैवस्वत अर्थात् यम का राज्य है ऐसा वर्णन किया है। इस ही प्रकार देवयान में इन्द्र का राज्य है। इस प्रकार से सारे आकाश गोल के एक प्रकाशित वा जाना हुआ, और दूसरा जलमय वा अंधकार युक्त इस प्रकार दो भाग किये हैं। अब इन दोनों देवयान वा पितृयान रूपी दोनों गोलार्द्धों को एक स्थान में जोड़ना है। यह काम वसन्त वा शारद संपातों ने किया है। और ये संपात स्थान स्वर्ग वा देवलोक वा देवयान के द्वार हुए। फिर इसकी रक्षा के लिए कुत्ते भी मिल गये। ये स्वर्ग द्वार की कल्पना वेदों के समय से आई हुई है।

पारसी लोगों में यह कल्पना कुछ अधिक पूरेपन से रही है। उनके संपात केवल दर्वाज़ा ही नहीं किंतु देवलोक वा यमलोक इन दोनों लोकों के बीच का पुल है। उसको चिन्वत् सेतु कहते हैं। और उसके रक्षक कुत्ते मृत मनुष्य की आत्मा को उस पुल परसे

---

†ऋग्वेद ९-११३-८

जाने में मदत करते हैं। ग्रीकों की कथाओं में 'कर्बेरास' नाम का तीन मस्तक वाला कुत्ता यमलोक के दर्वाजे की रक्षा के लिये रक्खा है। और ऋग्वेद[1] में यम का चार आखों वाला कुत्ता उसके राज्य के मार्ग की रक्षा करता है। इन बातों की आश्चर्य कारक तुल्यता से उनकी जड़ एक होनी चाहिये ऐसा स्पष्ट दीखता है। परन्तु उनका आजतक किसी ने समाधानकारक अर्थ नहीं दिया। परन्तु ओरायन पर यदि वसन्तसंपात था ऐसा मान लिया जाय तो ऊपर लिखे हुए कुत्ते स्वर्ग वा यमलोक की सीमा पर आजाते हैं और फिर सब ऊपर की बातें आकाश में स्पष्ट दीखेंगी। अपने ग्रन्थों में मृत मनुष्य की आत्मा को यमलोक जाते समय एक नदी[2] उलांघनी पड़ती है ऐसा वर्णन है। और ग्रीकों में भी ऐसी कल्पना है। मृगशीर्ष पर वसन्त संपात रखने से ये नदी अर्थात् आकाशगंगा ही है यह सरलता से समझ में आजायगा। यमलोक को जाने के लिये इस नदी के पास ग्रीक लोगों ने अर्गास अर्थात् नौका रक्खी है। वेदों[3] में भी दिव्य नाव से उत्तम लोगों के जाने का वर्णन है। वहां पर देवीम् नावम् ऐसा शब्द है। अथर्ववेद में भी (६-८०-३) दिव्यस्य शुनः ऐसे शब्द हैं। इन दोनों बातों का मेल बैठाने से दिव्य किंवा दैवी इसका अर्थ आकाश की (दिव्य-सम्बन्धी) ऐसा मानना

---

१. ऋग्वेद १०-१४-१०.

२. वैतरणी मृत मनुष्य के नाम से १ गौ देनी चाहिये। अर्थात् वह मृत मनुष्य नदी के परले तीर जाने को नाव का खर्च दे सकता है ऐसा गरुड़ पुराण में लिखा है।

३. ऋगवेद १०-६३-१०

चाहिये । महिम्नःस्तोत्र आदि नवीन संस्कृत के ग्रन्थों में रुद्र के दिव्य शरीर का वर्णन किया है । उस स्थान पर दिव्य शब्द का अर्थ आकाश में है यह प्रकट है। इस उत्तम लोक को जाने के मार्ग की रक्षा करने के लिए रक्खे हुए कुत्तों का भी दोनों साहित्यों में वर्णन है । आकाशगङ्गा स्वर्ग की अर्थात् देवयान मार्ग की सीमा समझ लेने से इस बात का स्पष्टीकरण सहज में हो जाता है। अर्थात् ये दिव्य नाव और कुत्ते अर्थात् 'अर्गो नेविस' वा 'कैनिस' ये दोनों नक्षत्र-पुञ्ज हैं। इस विवेचन से आकाश की स्थिति पर ऊपर लिखी कल्पना की गई होगी यह समझने का कोई कारण नहीं; किन्तु इससे उलटा यों समझना चाहिए कि पहले ये कल्पनायें थी और उन कल्पनाओं पर भी आकाश के तारों के नाम रख दिये गये होंगे । अनार्य लोगों की पुराण कथाओं से भी यह विदित होता है । तब ऊपर बतलाई हुई आर्यों की कथाओं की उत्पत्ति अभी बतलाए हुए प्रकार से ही हुई होगी यह इन तीनों आर्यशाखाओं की कथाओं की विलक्षण तुल्यता होने से जाना जाता है । इस स्थान पर भिन्न-भिन्न आर्य-राष्ट्रों की कथाओं में कुत्तों के रङ्ग-रूप में कुछ भेद मालूम होता है; इससे ये कथायें एक न होंगी ऐसा सन्देह होगा । परन्तु एक ही ग्रन्थ में इस प्रकार का पृथक् पृथक् वर्णन होने से यह शङ्का निरर्थक होती है। रङ्ग-रूप वा वचन लिङ्ग इत्यादि इन कथाओं में ऐसा महत्त्व नहीं रखते। ऋग्वेद में सरमा नाम की कुत्ती और स्वर्गद्वार के रक्षक कुत्ते भी विचार करने पर एक ही थे ऐसा विदित होता है। कारण यह है कि इन्द्र की गौओं को ढूँढने के लिये उसको (सरमा को) भेजने पर पणी ने उसको

पुचकार कर दूध पीने को दिया। और फिर वह वापिस आकर गौऐं देखने की बाबत नाहीं करने लग गई। तब इन्द्र ने उसको लात मारी और लात की चोट से उसने दूध उगल दिया। अब यह दूध अर्थात् आकाश गंगा का पानी किंवा अंग्रेज़ी शब्दों के अनुसार दूध की *नदी का दूध यह सहज में ही समझ में आ जायगा। ऋग्वेद † में 'शुनासीरौ' नाम के देवताओं की स्वर्ग से पृथ्वी पर दूध की वर्षा करने की प्रार्थना की है। मैक्समूलर साहब के मत से ये 'शुनासीरौ' अर्थात् कैनिस वा श्वान पुञ्ज ही था। ऋग्वेद के ‡ पहले मण्डल की एक ऋचा में ऋतु देवता ही ऋभु हैं और उनको संवत्सर समाप्ति के समय श्वान अर्थात् कुत्ते जगाते हैं ऐसा लिखा है। ये वर्णन कैनिस उर्फ़ श्वान-पुञ्ज वर्ष के आरम्भ में अथवा पितृयान के अन्त्य में पूर्व दिशा में सूर्योदय से पूर्व उगते थे इस बात का है। इन सब बातों का विशेष कर श्वान वर्षारम्भ करते थे इस बात का उस समय वसन्त संपात श्वान-पुञ्ज अथवा मृगशीर्ष पर होता था ऐसा मानने पर बहुत उत्तम रीति से अर्थ लग जाता है।

इस उत्पत्ति से दूसरी भी कितनी ही बातों का समाधान कारक अर्थ लगाया जा सकता है। मृगशीर्ष नक्षत्र सूर्योदय में उगने लगा अर्थात् वसन्त ऋतु का आरम्भ हुआ तब सब सृष्टि प्रफुल्लित होती थी इस ही कारण पुराणों में विष्णु के जो सात्विक गुण कहे हैं

---

* मृगशीर्ष पुञ्ज आकाश गङ्गा के समीप ही है। अंग्रेज़ी में आकाश गङ्गा को 'दूध का मार्ग' इस अर्थका Milky way यह नाम है। विष्णु का वास भी क्षीरसागर में है। तब यह क्षीरसागर वा Milky way प्रायः एक ही होने चाहिये। † ४-५७-५. ‡ १-१६१-१३.

वो सब इस मृगशीर्ष नक्षत्र में दीखते हैं ऐसा कहने में कोई हानि नहीं। और ये ही नक्षत्र शरत् संपात् में सूर्यास्त के साथ ऊगने लगे कि सब बातें बदल जाती हैं और वह इन्द्र और वृत्र के युद्ध की भूमि अथवा उस भयंकर रुद्र का स्थान हो जाता है ऐसा वैदिक ऋषियों के विचार में सहज में आया होगा। तात्पर्य ये है कि नक्षत्र अर्थात् मृगशीर्ष नक्षत्र सात्त्विक वा तामसिक इन दोनों ही गुणों का अर्थात् विष्णु वा रुद्र इन दोनों ही का द्योतक है। ग्रीकों की कथाओं में 'कर्बेरास' अथवा 'आर्थ्नांस' इस नाम के स्वर्गद्वार के रक्षक दो कुत्तों का वर्णन है। इनमें 'आर्थ्नांस' अर्थात् वैदिक वृत्र है ऐसा सब लोग समझते हैं। परन्तु यह वृत्र इस यमलोक के द्वार पर कैसे आया यह किसी ने नहीं बतलाया। परन्तु ऋग्वेद में नमुचि की कथा का हमारी प्रचलित उपपत्ति के अनुसार अर्थ किया जाय तो ये सब बातें ठीक जम जाती हैं। ऊपर एक स्थान में कहा गया है कि वृत्र का ऋग्वेद में बहुत से स्थानों पर मृगरूप से वर्णन आया है। अब नमुचि और वृत्र इन दोनों के वर्णन से ये भिन्न-भिन्न दो होंगे ऐसा कुछ नहीं मालूम होता। वास्तव में देखा जाय तो शुष्ण, पिप्रु, कुयव, नमुचि वा वृत्र ये सब इन्द्र के एक ही शत्रु के नाम हैं। अब जो मृगरूप को धारण करने वाले वृत्र को वा नमुचि को इन्द्र ने मस्तक काट कर मार डाला ऐसा वर्णन है, और इससे सहज विदित होता है कि रुद्र* ने जिस प्रजापति के शिर को तोड़ा था वह और मृग का शिर एक ही हैं। अब इन्द्र ने नमुचिकों 'परावति' अर्थात् दूर के प्रदेश† में मारा है। इस 'परावति

---

* ऋ० । १—८०—७, ५—३२—३, ५—३४—२, ८—९३—१४ ।

† ऋ० १—५३—७ ।

का अर्थ यमलोक प्रतीत होता है। परन्तु ऋग्वेद के* दशम मण्डल में एक जगह इन्द्र ने नमुचि को मारकर देवलोक का मार्ग खोल दिया ऐसा वर्णन आया है। इस के अनुसार नमूचिके मारने का निश्चित स्थान देवयान का द्वार जाना जाता है। वाजसनेयी संहिता में (१०-१४) एक याज्ञिक विधि के वर्णन में नमुचि के वध का काल व स्थान दिये हैं। उस स्थान पर ऋत्विज् यजमान को पूर्वादि सब दिशाओं में और वसन्त आदि सब ऋतुओं में (वसन्त से लेकर शिशिर ऋतु तक) ले जा चुकने पर व्याघ्रचर्म के नीचे ढके हुए एक धातु के टुकड़े को दूर फेंक कर कहता है कि 'नमुचि का मस्तक फेंक दिया।' इस शब्द का यदि कोई अर्थ हो सकता है तो येही कि ऋतुओं के संबन्ध से देखा जाय तो शिशिर ऋतु के अन्त में किंवा ऋग्वेद में वर्णन किये हुए पितृ-यान के द्वार पर वृत्र का वध हुआ। इस पर से नमुचि किंवा वृत्र वा ग्रीक लोकों का आर्थांस ये यमलोक के द्वार पर किस प्रकार आया यह समझ में आ जायगा।

इस नमुचि के मारने के विषय में ताण्ड्य † ब्राह्मण में एक चमत्कारिक बात ‡ दी है। इन्द्र नमुचि को रात्रि में न मारै, दिन में न मारै इस ही प्रकार सूखे वा गीले किसी भी शस्त्र से न मारै;

---

*ऋ० १०-७३-७, त्वं जघन्थ नमुचिं मखस्युं दासं कृण्वान ऋषये विमायं। त्वं चकर्थ मनवे स्योनान्पथो देवत्रां जसेव यानान् ॥

†ताण्ड्य ब्राह्मण १२-६-८।

‡ इस ताण्ड्य ब्राह्मण की बात पर से ही आगे पुराणों पर हिरण्यक-शिपु वा नरसिंह अवतार की कथा आई होगी।

इस ही कारण इन्द्र ने उसको दिन और रात्रि के संधिसमय अर्थात् उषा का उदय हो चुकने बाद और सूर्योदय होने से पहले पानी (झाग) से मार डाला। और यह युद्ध प्रतिदिन न होकर वर्षाकाल के आरम्भ में होने वाला है। इस समय को निश्चित रूप से कहा जाय तो देवयान वा पितृयान इन दोनों की संधि का समय है। इसमें कारण ये है कि ऋग्वेद के वर्णन के अनुसार नमुचि के मरण से देवलोक का मार्ग खुल जाता है यह है। परन्तु ऊपर लिखी कथा का आगे का भाग अर्थात् इन्द्र ने नमुचिका मस्तक पानी के झाग से काट दिया यह विशेष रूप से स्मरण रखने योग्य है। ऋग्वेद में ही आठवें* मण्डल में इन्द्र ने नमुचि का मस्तक पानी के झाग से काट दिया ऐसा वर्णन है। अब यह फेन अर्थात् झाग कहां से आया। अर्थात् नमुचि को यदि देवयान के द्वार के समीप मारा है और उसका मस्तक भी आज तक वहाँ ही पड़ा है तो यह झाग आकाश गङ्गा के सिवाय दूसरी किस जगह हो सकता हैं ? आकाश को सागर की और ताराओं को झाग की उपमा देने की चाल संस्कृत साहित्य में बहुत है। 'नेदं नभोमण्डलमम्बुराशिर्नैताश्च तारा नवफेनभङ्गाः। यह आकाश मण्डल नहीं किंतु जल का समुदाय वा समुद्र है, और ये तारे नहीं किन्तु नये झाग के टुकड़े हैं।' यह सुभाषित तो प्रसिद्ध ही है। शिव महिम्नः[1] स्तोत्र में 'तारागण गुणितफेनोद्गमरुचिः।' अर्थात् तारा समूहों के योग से जिसके झाग में रम-

* ऋ० सं० ८–१४–१३, अपां फेनेन नमुचेः शिरः इन्द्रोदेवर्तयः।

१ श्लो० १७—वियद्व्यापी तारागण गुणितफेनोद्गमरुचिः
प्रवाहो वारां यः पृषतलघुदृष्टः शिरसि ते।

णीयता बढ़ गई है। इस प्रकार रुद्र के मस्तक पर रहने वाले गङ्गा-प्रवाह का विशेषण दिया है। इस के सिवाय इस ही स्तोत्र-कार ने आगे २२ वें श्लोक में 'रुद्र ने स्वकन्याभिलाषी प्रजापति को बाण से वेध दिया' इस कथा को लिखकर यह कथा आज भी आकाश में प्रत्यक्ष दीखती है ऐसा कहा है। इससे शिव के मस्तक पर की गङ्गा; अर्थात् रुद्र वा व्याध के तारे के समीप में वर्त्तमान आकाश गङ्गा का ही पट्टा है यह कवि का आशय स्पष्ट दीखता है। अब महिम्नः स्तोत्र के रचना करने वाले को ही यदि आकाश गङ्गा में झाग दीखा❀ तो वैदिक ऋषियों की उज्ज्वल बुद्धि में भी वही दीखा हो तो क्या नई बात है। पारसियों के धर्म ग्रन्थ में 'मिथ्र' अपने 'वनन्त' रूपी वज्र को राक्षस पर फेंकता है। ऐसा वर्णन है। वनन्त अर्थात् पारसी दस्तूर के मत के अनुसार आकाशगङ्गा ही है। इस पर से भी इन्द्र का फेन रूपी शस्त्र

जगद् द्वीपाकारं जलधिवलयं तेन कृत—
मित्यनेनैवोन्नेयं धृतमहिमदिव्यं तव वपुः॥

(पुष्पदन्ताचार्य)

यह शिव स्वरूप की कल्पना वास्तव में बहुत ऊँची है। सारे विश्व को व्याप्त करने वाली आकाश-गङ्गा जिस के मस्तक पर है वह रुद्र स्वयं कितना बड़ा होना चाहिए इसकी कल्पना ही करना चाहिए ऐसा कवि कहता है। खगोल के चारों तरफ वलय अर्थात् कड़े के रूप में रहने वाली इस आकाश-गङ्गा का इससे अधिक सरस वर्णन करना असंभव है।

❀ प्रजानाथं नाथ प्रसभमभिकं स्वां दुहितरं,
गतं रोहिद्भूतां रिरमयिषु मृष्यस्य वपुषा।
धनुष्पाणेर्यातं दिवमपि सपत्राकृतममुं,
त्रसन्तं तेऽद्यापि त्यजति न मृगव्याधरभसः॥

अर्थात् आकाशगङ्गा ही है यह निःसंशय ठहरता है। तब इस प्रकार से संपात की जो स्थिति हमने मानी है वोही रक्खी जाय तो नमुचि की कथा का अच्छा अर्थ लगता है।

अब हम मृग का पीछा करने वाला जो भयंकर व्याध अर्थात् रुद्र है; उससे सम्बन्ध रखने वाली कथाओं की तरफ झुकते हैं। पौराणिक कथाओं में रुद्र का वर्णन मस्तक में गङ्गा, स्मशान में रहने वाला जङ्गली वेष इस प्रकार का है। यह कथा पितृयान के द्वार पर और आकाश गङ्गा के जरा नीचे जो व्याध का तारा है उसको ही रुद्र माना जाय तो सारी कथा ठीक मिल जाती है। परन्तु इस कथा का प्रस्तुत कथा से कोई संबन्ध नहीं। रुद्र की स्थिति वर्षों के हिसाब से कैसी होती है इस बात को दिखलाने वाली बातें हमको चाहिये। वसन्त संपात 'ओरायन' अर्थात् मृग-शीर्ष पर जिस समय था उस समय प्रजापति से अर्थात् ओरायन से वर्षारम्भ होता था। अब रुद्र ने प्रजापति को मारा और हम पहले बतला चुके हैं कि प्रजापति, संवत्सर और यज्ञ ये सब शब्द समानार्थक हैं। इसका अर्थ रुद्र ने प्रजापति को अर्थात् यज्ञ को संवत्सर के आरम्भ में मारा इस प्रकार होता है। इस ही कथा पर दक्षयज्ञ का रुद्र ने विध्वंस किया यह कथा रची गई होगी। महाभारत* में—'रुद्र ने यज्ञ का हृदय बाण से वेध दिया और

* ततः स यज्ञं विव्याध रौद्रेण हृदि पत्रिणा।
अपक्रान्तस्ततो यज्ञो मृगो भूत्वा सपावकः॥
स तु तेनैव रूपेण दिवं प्राप्य व्यराजत।
अन्वीयमानो रुद्रेण युधिष्ठिर नभस्तले॥

(महाभारत सौप्तिक पर्व १८, १३-१४.)

उसके अनन्तर वह बिधा हुआ यज्ञ अग्नि के साथ हरिण होकर भाग गया व उस ही रूप से आकाश में जाकर जिसके रुद्र पीछे लगा हुआ है इस रूप से वह वहाँ ही विराजमान है। इस प्रकार का वर्णन है' इस कथा पर से रुद्र को यज्ञ ही नाम मिला। *ताण्ड्य ब्राह्मण में भी यह ही प्रजापति की कथा कुछ भिन्न प्रकार से है। उस जगह प्रजापति ने अपने आप ही अपना बलि देने के लिये देवों के अधीन अपने आपको कर दिया इस प्रकार का वर्णन है।

परन्तु ये कथाएं चाहे जिस प्रकार की होवें इतना अवश्य है कि रुद्र ने यज्ञ उर्फ प्रजापति को संवत्सर के आरम्भ में मार डाला यह बात सत्य है। इस समय के संवन्ध में दूसरी भी एक कथा है। वह यह है कि शूलगव नामका यज्ञ; वसन्त अथवा शरद् ऋतु में आर्द्रा नक्षत्र में करना चाहिये ऐसा †आश्वलायन गृह्य-सूत्र में कहा है। इस समय इस वाक्य का अर्थ जिस दिन चन्द्रमा आर्द्रा नक्षत्र में हो उस दिन (वह दिन चाहे कौनसा ही हो) इस यज्ञ का आरम्भ करना चाहिये ऐसा मानते हैं। परन्तु इसका वास्तविक अर्थ वसन्त ऋतु में अथवा शरद् ऋतु में आर्द्रानक्षत्र पर दर्श (अमावस्या) वा पूर्णमास (पूर्णिमा) होने पर इस यज्ञ का आरम्भ करना चाहिये यह होगा ऐसा मालुम होता है।

इस वर्णन में मृगका शीर्ष अर्थात् मस्तक वेधा गया यह न लिखकर हृदय वेधा गया यह लिखा है। इस कारण ऐसा जाना जाता है कि पूरा मृग ही आकाश में था ऐसी कल्पना महाभारत के समय में होगी।

* ताण्ड्य ब्राह्मण ७ । २ । १ और तै० ब्रा० ३-९-२२-१

† आश्वालायन गृह्य-सूत्र ४-९-२.

यह यज्ञ उत्पन्न हुआ उस समय वसन्त संपात आर्द्रा नक्षत्र के समीप था ये बात है। संपात कुछ काल के बाद आर्द्रा नक्षत्र से पीछा हट जाने पर पूर्णमास किंवा दर्श आर्द्रा नक्षत्र पर वसन्त वा शरद् ऋतु में नहीं होने लगे तब इस यज्ञ का आरम्भदिन पूर्णमास किंवा दर्श ये दो दिन असंभव हो गये; तब आर्द्रा नक्षत्र पर चन्द्रमा वसन्त वा शरद् ऋतु में जिस दिन आ जाय वह ही दिन आरम्भ में मानना चाहिये यह अर्थ करने लगे। परन्तु यह कथा इतनी विश्वास योग्य नहीं है। 'रुद्र के समीप कुत्ते हैं' इस वाजसनेयी संहिता के वर्णन से वैदिक ऋषियों को व्याध के समीप अर्थात् रुद्र के समीप जो श्वान पुञ्ज है वह विदित था यह जाना जाता है। ये बात भी ध्यान में रखने योग्य है।

इस प्रकार मृगशीर्ष नक्षत्र पर वसन्त संपात था यह मान लेने पर हमारे पुराणों के मुख्य मुख्य देवताओं के मूल तथा स्थान उस तारा-पुञ्ज में वा उसके पास कहीं पर हैं यह आपको अच्छे प्रकार से मालुम हो गया होगा। वसन्त ऋतु में प्राप्त होने वाली सात्विक वृत्ति के देवता *विष्णु, और मेघ विद्युत् आदि के अधिपति रुद्र, वा वर्षारम्भ करने वाले यज्ञ के देवता प्रजापति इन सबकी एक जगह योजना की गई है। यदि सर्वाङ्ग विचार किया जाय तो हमारी त्रिमूर्ति का पूर्ण स्वरूप इस तारका-पुञ्ज में जिस समय वसन्त संपात था उस समय इस ही तारका-पुञ्ज में प्रतिबिम्बित हुआ

---

* मृगशीर्षका पुञ्ज आकाश गङ्गा के समीप है। अंग्रेजी में आकाश गङ्गा को 'दूध का रास्ता' इस अर्थ का 'Milky Way' ये नाम दिया है। विष्णु का निवास भी क्षीरसमुद्र ही है। ऐसी दशा में क्षीर-सागर और Milky Way बहुत करके एक ही होने चाहिये।

है। दत्तात्रेय नामक देवता का यह त्रिमूर्ति स्वरूप श्वान रूपी वेद करके अनुगम्यमान है ऐसा वर्णन किया गया है। मृगशीर्ष के तीन तारे और उसके पीछे रहने वाले कुत्ते पर से इस स्वरूप की कल्पना करना कठिन नहीं। आकाश के दूसरे किसी भी भाग में ये सब बातें इतनी सुन्दरता से एक जगह मिलना कठिन हैं।

मृगशीर्ष का विचार करते समय ग्रीक लोगों ने ओरायन पुञ्ज को अपना स्वतन्त्र नाम दिया था ऐसा प्लूटार्क के लिखने से स्पष्ट होता है यह हम पहले कह ही चुके हैं। उस जगह इस कथन को पुष्ट करने वाली, और ओरायन पुञ्ज में एक समय वसन्त संपात था यह बतलाने वाली कुछ वैदिक कथाओं का परीक्षण भी किया है। अब यहां पर इस तारका-पुञ्ज का नाम तथा आकृति ग्रीक, पारसी, और आर्य लोग आपस में अलग अलग हुए उस से पहले ही निश्चित किये गये थे; इसको बतलाने वाली कथाओं का विचार करना है। ये कथा और संभवतः ओरायन् यह नाम भी उस समय वसन्त संपात मृगशीर्ष-पुञ्ज के समीप था ऐसा मानने से ठीक समझ में आती है ऐसा आगे के विचार से विदित होगा।

पहले यह दिखलाया जा चुका है कि अग्रहायण इस शब्द की, अथवा इसको जाने दीजिये आग्रहायणी इस शब्द की परम्परा पाणिनि के समय तक लगाई जा सकती है। और नक्षत्र वाचक होने से यह शब्द आग्रहायणी नाम की पूर्णिमा के नाम से लिया गया हो यह कहना भूल है। हायन शब्द ऋग्वेद में नहीं आया है, किंतु अथर्ववेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में आया है। पाणिनि के मत से यह शब्द 'हा' अर्थात् जाना अथवा त्याग करना इस धातु से

निकला है। और उसका 'व्रीहीधान्य' (चावल) वा 'समय' ये दो अर्थ हैं। इस हायन शब्द का अयन वा आग्रयण (अर्थात् अर्धवार्षिक यज्ञ) इन शब्दों से संबन्ध लगाया जाय तो इन दोनों अर्थों का कारण समझ में आता है। सच पूछिये तो वर्ष के अयनात्मक दो विभाग बहुत प्राचीनकाल से चले आते हैं। देवयान वा पितृयान इन दो नामों से ये भाग किसी समय प्रसिद्ध थे इस विषय का विवेचन पहले किया जा चुका है। और इस अयन शब्द में ह् लगाने से इस ही शब्द से हायन शब्द सहज में बन जाता है। इस प्रकार से जिन शब्दों के आरम्भ में स्वर हो ऐसे शब्दों में ह् लगाने की रीति अब भी हम को मिलती है। जैसे उदाहरणार्थ अंग्रेजी में हिस्टरी (इतिहास) शब्द इस्तरी शब्द से निकला हुआ है ऐस मैक्समूलर साहब ने भाषा-शास्त्र नामक ग्रन्थ में सिद्ध किया है। इस कारण अयन शब्द से हयन और उस पर से बाद में हायन शब्द सिद्ध किया जाय तो इसमें कोई विशेष बात नहीं। अब एक ही शब्द के दो रूप होने से सहज में ही किसी एक विशिष्ट कार्य के लिये एक अर्थ और किसी दूसरे कार्य के लिये एक अर्थ इस प्रकार उस शब्द का उपयोग होकर अर्थ में भिन्नता अपने आप आ जाती है। ऐसे शब्दों को संस्कृत के कोषकारों ने योगरूढ कहा है। अर्थात् ऐसे शब्दों में धात्वर्थ और रूढि दोनों का ही थोड़ा थोड़ा भाग रहता है। इस प्रमाण से अयन शब्द का पुराना अर्धवर्ष (अर्थात् छै महीने) यह अर्थ स्थिर रहा और हायन शब्द पूरे वर्ष का वाचक भी हो गया। अब अयन का हयन होने पर आग्रयण अर्थात् अग्र + अयन ये शब्द अग्र + हयन वा अग्रहयण ऐसा सहज ही में हो

गया । और ह्यन शब्द का पाणिनि के प्रज्ञादिगण में हायन हो जाने पर अग्रह्यण का अग्रहायण ऐसा रूप हो गया ।

परन्तु वर्तमान काल में व्युत्पत्तिशास्त्र के नियम के अनुसार यह रीति यद्यपि इतनी सरल दीखती है तथापि हमारे वैयाकरण विद्वानों ने उसको नहीं माना था । किसी शब्द के आरम्भ में ह् लगाना वा ह् हो तो उसे निकाल देना इस नियम से बहुत से संस्कृत शब्दों की सहज में उत्पत्ति बतलाई जा सकती है । मृग-शीर्ष के मस्तक पर जो तीन तारे हैं उनको इन्वका वा हिन्वका इन दो शब्दों से कहा जाता है । । परंतु संस्कृत के व्याकरणकारों ने इन दोनों शब्दों को इन्व वा हिन्व इन भिन्न भिन्न दो धातुओं से सिद्ध किया है । परन्तु उनने इन्व, हिन्व, अय, ह्य, अट्, हट्, अन्, हन्, इस प्रकार के दुहेरे रूप क्यों होते हैं इसका कारण कभी नहीं बतलाया । उनका कथन ये है कि अयन शब्द अय् धातु से जिसका अर्थ जाना है इससे निकला है । ह्यन् शब्द ह्य धातु से जिसका अर्थ भी जाना ही है तथा हायन शब्द हा धातु से जिसका अर्थ भी जाना ही है उससे निकला है । परंतु इस रीति से सब शब्दों की व्यवस्था नहीं हो सकने से बहुत स्थानों में पृषोदरादिगण* का आश्रय करना पड़ा है । परंतु वह किसी भी प्रकार से हो तो इतना सत्य है कि अयन वा हायन इन दोनों में जो धातु है उसका अर्थ गमन है । और जब उन

* पृषोदर शब्द पृषत् वा उदर इन दो शब्दों से हुआ है । इनमें त् का लोप होने का कोई नियम न होने से यह शब्द बिना किसी नियम के सिद्ध होने वाले शब्दों में प्रमुख होता है । पृषोदरादिगण अर्थात् बिना किसी नियम के सिद्ध होने वाले शब्दों का वर्ग है ।

दानों का ही समय विभाग के दिखलाने में उपयोग होने लगा तब उन शब्दों को विशिष्ट अर्थ भी मिल गया। अर्थात् अयन शब्द अर्ध-वर्षवाचक हो गया और हायन पूर्णवर्षवाचक हो गया। इसमें जो पहले अयन का आरम्भ है वह ही वर्ष का भी आरम्भ है। अर्थात् अयनारम्भ वाचक आग्रयण शब्द का संवत्सर के आरम्भवाचक आग्रहायण इस नाम से स्वरूपभेद हो गया।

अयन शब्द के अर्थ के विषय में विचार करने से ऐसा जाना जाता है कि 'सूर्य का गमन' इतना ही इस शब्द का अर्थ था और फिर उस गमन से नियमित हुआ समय अर्थात् आधा वर्ष यह अर्थ हुआ। और प्रत्येक अयनारम्भ के दिन में आग्रयणेष्टि के नाम से करने की दो अर्ध-वार्षिक इष्टियां होंगी ऐसा भी विदित होता है। वेदकाल के अनन्तर के ग्रन्थों में आग्रयणेष्टि को नवान्नेष्टि के नाम से कहा है। परन्तु संपात के चलन होने से ऋतु पीछे हटते हैं इस हेतु से यह इष्टि अयन के आरम्भ में न हो कर किसी दूसरे समय होने लग गई इस कारण से मनु आदि स्मृतिकारों की ऊपर लिखी हुई कल्पना हुई होगी। कारण ये है कि आश्वलायन ने श्रौतसूत्रों में दो ही आग्रयणेष्टि बतलाई हैं। एक वसन्तऋतु में करने की और दूसरी शरद्ऋतु के आरम्भ में करने की। पहले कहे हुए प्रकार से वसन्त और शरद्ऋतु देवयान और पितृयान इन दो मार्गों के अर्थात् पुराने उत्तरायण वा दक्षिणायान के आरम्भ में होते थे। आश्वलायन ने* हवन के लिये व्रीहि (चांवल) श्यामाक (सांवखिया) और यव (जौ) ये तीन धान्य बतलाये हैं।

* आ० गृ० सू० १-२-९-१.

और इस ही आधार पर तीन आग्रयणेष्टि की कल्पना पीछे से निकली दीखती है। क्योंकि तैत्तिरीय संहिता* के 'संवत्सर में दो वार धान्य सिजाना चाहिये।' इस वचन से यह कल्पना आरम्भ में नहीं थी, पीछे हुई है ऐसा स्पष्ट दीखता है। अर्थात् पहले प्रत्येक अयन के आरम्भ में एक एक इष्टि करना चाहिये इस नियम से दो ही इष्टि होती थी, और उस समय आग्रयण का नवीन ग्रन्थों में वतलाये हुए प्रकार से नवीन अन्न खाने से कोई सम्बन्ध नहीं था यह स्पष्ट दीखता है। क्योंकि ऐसा अर्थ माने बिना आश्वलायन के कथन के अनुसार वसन्त और शरद्ऋतु के आरम्भ में ही इष्टि क्यों करना इसका अर्थ नहीं लगता।

इस प्रकार से अमरसिंह के आग्रहायणी शब्द की परम्परा पाणिनि से पहले वेदकाल पर्यन्त अर्थात् 'आग्रयणी' इस वैदिक शब्द से लगाई जा सकती है। परन्तु आग्रयणी शब्द का वैदिक काल में एक तारकापुञ्ज यह अर्थ था इसमें क्या कारण? यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है। पाणिनि के समय में प्रचलित आग्रहायणी शब्द का मृगशीर्ष नक्षत्र यह अर्थ परम्परागत ही होना चाहिये। अब प्रत्येक अयन का आरम्भ किसी भी नक्षत्र पर आखिर सूर्य के रहने से ही होगा। इस ही कारण पहिले अयन के आरम्भ में सूर्य के साथ उगनेवाला नक्षत्र; यह अर्थ आग्रयण शब्द का धीरे धीरे होगया ऐसा समझना कुछ अनुचित नहीं। वैदिक ग्रन्थों में आग्रयण शब्द का; इस नाम का नक्षत्र ऐसा अर्थ बतलाने के वचन कहीं प्राप्त नहीं होते। परन्तु तैत्तिरीय संहिता में यज्ञ सम्बन्धी ग्रहों

* तै० सं० ५-१-७-३.

का अर्थात् यज्ञ के पात्रों का आग्रयण से आरम्भ होना चाहिए ऐसा लिखा हुआ है। और उन पात्रों में से दो पात्रों को शुक्र वा मन्थिन् इस नाम से दो ग्रहों के वाचक नाम दिये हैं*। इस पर से आग्रयण भी तारागणक वाचक नाम होना चाहिए ऐसा अनुमान होता है। और उस के स्थान का हिसाब लगाया जाय तो वह नक्षत्र वर्ष के आरम्भ का होना चाहिए ऐसा दीखता है। यज्ञ के ग्रन्थों का पात्रवाचक ग्रहशब्द आकाश के ग्रहों का वाचक हुआ। इन यज्ञ पात्रों की संख्या और चन्द्र सूर्य आदि अपने ग्रहों की संख्या तुल्य ही है। इस कारण मृगशीर्ष वाचक वर्तमान काल का आग्रहायण शब्द आग्रयण इस वैदिक शब्द का ही रूपान्तर होगा। और मृगशीर्ष को पहले किसी जमाने में यज्ञकर्मों में आग्रयण नाम से कहते होंगे यह बहुत सम्भव है। आग्रयणेष्टि का सच्चा अर्थ लुप्त हो जाने पर आग्रहायण उर्फ आग्रयण इस शब्द का अयनारम्भ का नक्षत्र यह अर्थ जा कर, वह शब्द जिस महीने में वह इष्टि होती थी उस महीने का वाचक हो गया। और उसी पर से 'मासानां मार्गशीर्षो-ऽहं' इत्यादि कल्पनाओं का प्रादुर्भाव हो गया। आग्रयण शब्द का मृगशीर्ष यह अर्थ किसी भी प्रकार लुप्त सा हो गया हो तथा आग्रहायणी का पाणिनि के समय में ओरायन नक्षत्र पुञ्ज यह अर्थ था ये निश्चित है। और यह अर्थ पाणिनिको परम्परा से ही विदित हुआ होगा।

---

* रुद्राध्याय में भी शुक्र, मन्थिन्, आग्रयण, विश्वेदेव, ध्रुव ये नाम एक स्थान पर क्रम से दिये हैं।

इस मृगशीर्ष उर्फ ओरायन पर कैसी कैसी कथायें उत्पन्न हो गईं यह आपने पहले देखा ही है। एक समय वह अपनी कन्या की ही इच्छा करने वाले प्रजापति का शिर हो गया। किसी ने उसको यमलोक के द्वार पर इन्द्र के द्वारा काटे गये नमुचि का मस्तक माना। ग्रीक लोकों में भी इस ही प्रकार की ओरायन के सम्बन्ध में दो तीन कथायें हैं। कुछ कहते हैं कि—'ओरायन पर इओस (उषस्) की प्रीति हो जाने से वह उसको दूर ले गया। परन्तु यह बात देवताओं को अच्छी नहीं लगी इस कारण से आर्टेमिस ने उसको आर्टिजिया नामक स्थान में बाण से मार डाला।' दूसरे कहते हैं—'आर्टेमिस की उस पर प्रीति हो गई। परन्तु उसका भ्राता जो अपालो था उसको यह बात ठीक नहीं लगी इस कारण उसने समुद्र में दूर की एक वस्तु को दिखला कर कहा कि तू इस वस्तु को बाण से नहीं छेद सकता। इस पर उसने उस ही समय बाण का निशाना लगा कर उसका छेदन कर दिया। परन्तु बाद में वही वस्तु अर्थात् समुद्र में तिरता हुआ ओरायन का ही शिर था यह मालुम हुआ।' और कुछ यों कहते हैं—'ओरायन ने आर्टिमिस की अयोग्य रीति से अभिलाषा की इस कारण उसने उसको एक बाण से मार डाला।' इन सब कथाओं में अभिलाषा, बाण और मस्तक का काटना ये सब वैदिक ग्रन्थों की बातें प्राप्त होती हैं। इन नक्षत्रों के सूर्योदय में अस्त होने लगने से बद्दलों का आना अर्थात् वर्षाकाल के अगमन का लक्षण होता है ऐसा ग्रीक लोग मानते थे। और इस नक्षत्र को इंब्रिफर अथवा अक्वोसस अर्थात् वर्षाकाल का लाने वाला इस प्रकार के नाम दिये थे। और वेदों में जिस प्रकार श्व नाम के तारे

को वर्षारम्भ करने वाला और उस को ही 'शुनासीरौ' इस नाम से वर्षा ऋतु के आगमन का सूचक बतलाया गया है। इस ही प्रकार की ग्रीकलोगों की कथाओं को समझना चाहिये।

परन्तु जर्मन लोगों की दन्त-कथाएं तो इस से भी अधिक स्पष्ट हैं। प्रो. कुहन कहता है कि हमारी पुरानी तथा नयी दोनों प्रकार की दन्त-कथाओं में एक व्याध है। उसको पहले 'वोडन' उर्फ 'गोडन' नाम का मुख्य देवता मानते थे। और वह हरिण के पीछे जाकर उस को बाण मारता है इस प्रकार की अनेक कथाएं हैं। जर्मन कथाओं में ये हरिण अर्थात् सूर्य देवता का प्राणी है। अर्थात् ये सब बातें वेद में रुद्रकी ऋष्य रूपी प्रजापति को मारने की जितनी कथायें हैं उनके तुल्य ही हैं। इस ही प्रकार जर्मन देश वा इंग्लैण्ड के मध्ययुग संबन्धी तपश्चरण के नियमों के ग्रन्थों में ऐसा वर्णन है कि पुराने वर्ष की समाप्ति वा नवीन वर्ष का आरम्भ इन दोनों के बीच 'डाएज्वोल्फटन' अर्थात् वैदिक द्वादशाह नाम के समय में उस समय के लोग एक प्रकार का खेल खेलते थे। और उस खेल में दो मनुष्य मुख्य काम करने वाले होते थे। उनमें एक हरिण का और दूसरा हरिणी का का सांग भरते थे। ये बारा दिन सारे वर्ष में बहुत पवित्र होने से इन दिनों में देवता लोग मनुष्यों को देखने के लिये उन के घरों में उतरते हैं ऐसी कल्पना होने से ऊपर लिखा हुआ खेल उन देवताओं का ही कुछ चरित्र बतलाता होगा ऐसा समझने में कोई हानि नहीं। सब प्रकार से भारतीय और जमन लोगों

1. Mediaeval Penitentials.

की दन्त-[illegible] म बहुत कुछ समानता है यह बात स्पष्ट दीखती है ।

इस वर्णन में आया हुआ जो हरिण का खेल है वह पुराने वर्ष और नये वर्ष के बीच के बारह दिनों में होता था । और उन दिनों को कुत्ते के दिन † इस अर्थ का नाम दिया गया है । इन दिनों का हरिण और व्याध के साथ कुछ न कुछ संबन्ध अवश्य देखने में आता है । पहले कहा जा चुका है कि हम लोग चान्द्र वा सौर वर्ष का मेल बैठाने के लिये प्रति वर्ष चान्द्र वर्ष के अन्त में १२ दिन रखते थे । यह ही उन जर्मन लोगों के बारह पवित्र दिनों का मूल होना चाहिये । वैदिक ग्रन्थों में भी ये बारह दिन (द्वादशाह) वार्षिक सत्र की दीक्षा लेने का काल होने से पवित्र माना गया था । यदि मृग और व्याध वर्षारम्भ करते थे; उस समय को विचार में रखकर ऊपर लिखी हुई कथाएँ रची गई हों ऐसा मान लिया जाय तो उन की उपपत्ति सहज में लगाई जा सकती है। पहले एक स्थान में कहा जा चुका है कि ऋग्वेद में 'ऋतु देवता जो ऋभु हैं उन के लिये श्वान अर्थात् कुत्ते वर्ष के आरम्भ में स्थान करते हैं ।' ऐसा वर्णन है । ये ही कथा पाश्चात्य देशों के कुत्ते के दिनों की कथा का मूल मालूम होती है । वर्तमान समय में इन दिनों का वर्ष में जो स्थान था वह पलट गया है परन्तु उस का कारण संपात के चलने से ऋतु पीछे पीछे सरकते हैं ये ही है । इसका दूसरा उदाहरण पुराने जमाने का और इस जमाने का पितृ-पक्ष का स्थान भी

---

†, Dog days.

है। पहले यह स्थान दक्षिणायन के आरम्भ में होता था परन्तु इस समय ऐसा नहीं है। इस विषय का विवेचन एक स्थान पर पहले आ ही चुका है। मतलब ये है कि ओरायन् ऊर्फ व्याध नाम के नक्षत्र पर वसन्त संपात था उस समय को लक्ष्य करके ऊपर कही हुई जर्मन की कथा है ऐसा मानने के सिवाय ये हरिणों का खेल पुराने वर्ष के अन्त में और नये वर्ष के आरम्भ में बारह दिनों में क्यों होता था; और इन बारह दिनों को कुत्ते के दिन क्यों कहते हैं इस का अर्थ नहीं लग सकता।

अब इस विवेचन से प्रत्यक्ष होगा कि जर्मन व ग्रीक लोगों में जिस समय ओरायन पर वसन्त संपात था उस समय की कथायें रह गई हैं। पहले बतलाये हुए प्रमाणों से पारसी लोगों के प्राचीन पञ्चाङ्गों से भी इस ही समय का अनुमान होता है। अर्थात् पारसी, ग्रीक, जर्मन और भारतीय ये चारों आर्य लोगों के वर्ग इस कथा के उत्पन्न होने पर और आग्रयण उर्फ ओरायन् का स्वरूप निश्चय हो चुकने बाद आपस में अलग अलग हुए ऐसा दीखता है। इस बात को सिद्ध करने के लिये अब दूसरे किसी प्रमाण के देने की जरूरत नहीं मालूम होती। तथापि एक बात ऐसी ही और है जिस में इन राष्ट्रों में विशेष तुल्यता दीखती है। यह कथा ज़रा मजेदार तथा महत्व की होने से इस विषय में थोड़ा विचार करना है।

ग्रीक देश के पुराणों में ओरायन अपने वध के अनन्तर आकाश में नक्षत्ररूप से रहा; और वहाँ पर पट्टा तल्वार, सिंहचर्म वा गदा धारण करने वाले राक्षस के रूप में दीखता है ऐसा वर्णन है। अब ओरायन की उत्पत्ति यदि ऊपर लिखे आर्य राष्ट्रों की

फूटाफूट होने के पहले की हो तो इस ओरायन के उपकरणों के विषय में भी इन सब राष्ट्रों के ग्रन्थों में कुछ ना कुछ उल्लेख अवश्य ही मिलना चाहिए। थोड़ी सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो वह वैसा ही है यह मिल सकैगा। वेदों में मृगशीर्ष का देवता सोम है। सोम अर्थात् पारसी लोगों का हओम है। अवेस्ता में इस हओम का एक सूक्त है, और उसमें एक श्लोक है उसमें हे हओम, तुझको मझ्दने (अर्थात् ईश्वर ने) तारों में जड़ी हुई एक मेखला दी है, ऐसा कहा गया है। परन्तु मूल में 'ऐव्य-ओंघनेम्' ऐसा जो शब्द है उसकी मेखला शब्द पर से अच्छी कल्पना नहीं हो सकती। यह शब्द मूल में झेन्द भाषा का होकर उसका कस्ति—अर्थात् पारसी लोग जो पवित्र सूत्र कमर के चारों तरफ लपेटते हैं वह—ऐसा अर्थ होता है। अर्थात् हओम की मेखला अर्थात् उसकी कस्ति होती है। ओरायन के पट्टे के विषय में पारसियों के धर्म ग्रन्थों में अधिक कुछ उल्लेख नहीं है। तथापि ऊपर लिखे श्लोक पर से ऐसे प्रकार का उल्लेख अपने ग्रन्थों में कहाँ मिलेगा इसका अच्छा सुराख लगता है। वैदिक ग्रन्थों में मृगशीर्ष नक्षत्र को प्रजापति वा यज्ञ कहा है यह पहले दिखलाया जा चुका है। इस कारण इस ओरायन की अर्थात् यज्ञ की कमर के चारों तरफ के पट्टे को सहज ही यज्ञ का उपवस्त्र अर्थात् यज्ञोपवीत कहना पड़ेगा। परंतु वर्तमान समय में यज्ञोपवीत का अर्थ ब्राह्मण के गले का सूत्र इस प्रकार का है। तौ भी उसका संबन्ध भी ओरायन के पट्टे से अर्थात् प्रजापति उर्फ यज्ञ के उपवस्त्र से ही है ऐसा दिखलाया जा सकेगा।

यज्ञोपवीत शब्द यज्ञ वा उपवीत इन दो शब्दों से बना है। और

इस समास का यज्ञ के लिए उपवीत किंवा यज्ञ का उपवीत इस प्रकार के दोनों विग्रह हो सकते हैं। परंतु पारिजात-स्मृति-सार में

'यज्ञाख्यः परमात्मा य उच्यते चैव होतृभिः ।
उपवीतं यतोऽस्येदं तस्माद् यज्ञोपवीतकम्' ।।

अर्थात् परमात्मा को यज्ञ कहते हैं। और उसका यह उपवीत है इस कारण इसको यज्ञोपवीत कहते हैं ऐसा कहा है। इसके अनुसार दूसरा ही विग्रह ग्राह्य दीखता है। यज्ञोपवीत धारण करते समय पढ़ने के मन्त्र का पूर्वार्ध इस प्रकार है।

'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं
प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात् ।

अर्थात्--यज्ञोपवीत परम पवित्र है। और वह पूर्वकाल में प्रजापति के साथ उत्पन्न हुआ है। इस मन्त्र का और ऊपर बतलाये हुए पारसी मन्त्र का बहुत कुछ साम्य है। दोनों ही मन्त्रों में यह उपवीत उस देवता के साथ साथ उत्पन्न हुए हैं ऐसा सहज शब्द से कहा गया है। यह सादृश्य काकतालीय न्याय से हो यह संभव नहीं। और इस ही कारण से हमारे पवित्र सूत्र अर्थात् जनेऊ की कल्पना इस मृगशीर्ष पट्टे पर से ही निकली हो ऐसा मालूम होता है। उपवीत शब्द का मूल अर्थ कपड़े का टुकड़ा ऐसा है; सूत्र नहीं। इस पर से यज्ञोपवीत का मूल-स्वरूप कमर के चारों तरफ लपेटने का पट होगा ऐसा दीखता है। तैत्तिरीय संहिता में निवीत प्राचीनावीत वा उपवीत ऐसे शब्द आये हैं। परन्तु मीमांसक[1] लोग उस का संबन्ध जनेऊ की तरफ न लगा कर

---

१ "अत्र प्रतीयमानं निवीतादिकं वासोविषयम्। न त्रिवृत्सूत्रविषयम्। 'अजिनं वासो वा दक्षिणतः उपवीय' इत्यनेन सादृश्यात्।" अर्थ-

यज्ञ के समय रखने के पट की तरफ किंवा मृग के चर्म की तरफ लगाते हैं। सूत्रग्रन्थों में वर्णन की हुई उपनयन-विधि में भी जनेऊ का संबन्ध कुछ नहीं है। परन्तु इस समय में तो उपनयनों में जनेऊ ही मुख्य हो गया है। और्ध्वदेहिक (मरण के पीछे का क्रिया-कर्म) विधि करते समय वा यज्ञ करते समय जनेऊ के सिवाय और भी एक वस्त्र का टुकड़ा पहनना पड़ता है। इस चाल का भी मूल ऊपर लिखी हुई बात में ही है ऐसा मालूम होता है।

पहनने के तीन जनेउओं में एक उत्तरीय-वस्त्र (जो दुपट्टे के नाम से प्रसिद्ध है) के एवज में होता है ऐसा देवल † ने कहा है। इस पर से पुरानी वास्तव में क्या रीत थी यह स्पष्ट ही दीखता है। तात्पर्य, देखना इतना ही है कि यज्ञोपवीत का वास्तविक अर्थ छोटासा गोल वस्त्र था और होते होते स्मृतियों के समय में उसका सूत्र वा जनेऊ ऐसा अर्थ हो गया। वर्तमान समय में यह वस्त्र अथवा सूत्र पहनने की हमारी और पारसियों की आजकल की पद्धति निराली ही है। पारसी लोग हमारे प्रजापति की तरह अर्थात् कमर के चारों तरफ लपेट लेते हैं और हम लोग दाहिनी कांख के नीचे और बाँये कन्धे पर डालते हैं। परन्तु यह प्रकार पीछे से आया हुआ दीखता है। कारण इस में यह है कि तैत्तिरीय संहिता में प्रति समय जनेऊ रखने की स्थिति

इस स्थान पर निवीतादि शब्दों का संबन्ध वस्त्र से हैं। तिहेरा सूत्र से (जनेऊ से) नहीं। तैत्तिरीय आरण्यक २--१ इस में 'अजिन (चर्म ?) किंवा वस्त्र दहिनी तरफ लेकर' इत्यादि वचनों से यह स्पष्ट दीखता हैं।

† 'तृतीयमुत्तरीयार्थं वस्त्राभावे तदिष्यते।

निवीत अर्थात् गले में रखने की बतलाई है। इस समय निवीत का अर्थ दोनों हाथ खुले छोड़ कर गले में सरल माला की तरह जनेऊ रखने का प्रकार है। परन्तु कुमारिल भट्ट ने अपने तन्त्र-वार्तिक में निवीत † अर्थात् कमर-के चौतरफ़ लपेटना ये भी अर्थ दिया है। आनन्द गिरि और गोविन्दानन्द इन दोनों ने भी शाङ्करभाष्य की अपनी अपनी टीकाओं में ऐसा ही अर्थ दिया है। इस से जाना जाता है कि ब्राह्मण लोग भी पहले अपना यज्ञोपवीत पारसी लोगों की तरह कमर के चारों तरफ बाँधते थे। अर्थात् कुछ भी करना होता तो वास्तव में वे लोग कमर बांधते थे ऐसा दीखता है। हमारे यहां ओरायन के उपकरणों में से केवल उपवीत ही रह गया है ऐसा नहीं है। उपनयन विधि का जरा निरीक्षण किया जाय तो मेखला, दण्ड, वा चर्म ये और भी उपकरण हमने रख रक्खे हैं ये भी मालूम होगा। जिस लड़के की जनेऊ करना होता है उसकी कमर के चारों तरफ डाभ की एक मेखला बांधी जाती है। और उस में नाभि के स्थान की जगह तीन गांठें दी जाती हैं। ये गांठें अर्थात् मृगशीर्ष नक्षत्र के ऊपर के तीन तारों की नकल है। दूसरे उस लड़के को एक पलास (ढाक) का दण्ड लेना पड़ता है। और नवीन जनेऊ जिसका होता है उस लड़के को* मृगचर्म की भी आवश्यकता होती है। वास्तव में यह मृगचर्म किसी समय में सारे

---

†--निवीतं केचिद्गलवेणिकाबन्धं स्मरन्ति। केचित् पुनः परिकरबन्धम्।

*--'मेखलां त्रिरावर्त्य नाभिप्रदेशे ग्रन्थित्रयं कुर्यात्'

शरीर में पहना जाता था। परन्तु होते होते उसकी मजल केवल जनेऊ में एक छोटा सा टुकड़ा रखने पर आ पहुँची। इस रीति से लड़के को अलंकृत करना मानों उस को प्रजापति का ही स्वरूप धारण कराना है। ब्राह्मण होना अर्थात् आद्य-ब्राह्मण जो प्रजापति उसका रूप धारण करना है। प्रजापति ने मृग का रूप धारण किया था उसकी कमर में मेखला थी और हाथ में दण्ड था; इस कारण हम भी ब्राह्मण होने वाले लड़के को मृग-चर्म, मेखला और दण्ड धारण कराते हैं।

इस प्रकार ब्राह्मणबटुक को प्रजापति की अर्थात् ओरायन की बहुत सी पोषाक मिल गई। परंतु ओरायन की तलवार उस के पास नहीं। सिवाय ओरायन का चर्म सिंह का है और ब्राह्मण बटु को हरिण का दिया गया है। इस भेद का कारण समझ में नहीं आता। संभव है ओरायन के संबन्ध में ये कल्पनायें पीछे से उत्पन्न हुई हों। सिंह-चर्म की बाबत कुछ कारण बतलाया जा सकता है। सायणाचार्य ने मृग शब्द के हरिण और सिंह दोनों ही अर्थ दिये हैं। इन दोनों राष्ट्रों ने ये दोनों भिन्न भिन्न अर्थ माने होंगे। मृग शब्द के सच्चे अर्थ की बाबत आज भी संशय है।अर्थात् मृग-चर्म का भूल से सिंहचर्म ऐसा अर्थ हो सकता है। अस्तु। इतना अवश्य है कि नवीन यज्ञोपवीत जिसका हुआ हो ऐसे ब्राह्मणबटुक की पोषाक, और ओरायन की पोषाक और पारसी लोगों की कस्ति इन में ऊपर दिखलाया हुआ विलक्षण साम्य और ओरायन का स्वरूप और उस के संबन्ध की कथाएँ ग्रीक, पारसी, और भारतीय आर्य इन तीनों जातियों के आपस में फटने से पहले की हैं इसमें संशय नहीं।

अब यदि इस नक्षत्रपुञ्ज के विषय में पूर्व और पश्चिम देशों की कथाओं में इतनी तुल्यता है, और भिन्न २ आर्य राष्ट्रों में इस नक्षत्रपुञ्ज के स्वरूप के विषय में यदि समान कल्पनायें हैं, इस ही प्रकार इस नक्षत्र पुञ्ज के आगे और पीछे के नक्षत्र-पुञ्ज कैनिसमेजर * (बृहत् श्वान) और कैनिस मायनर † (लघु श्वान) अर्थात् ग्रीकों के कान्, व प्रोकान् और हमारे श्वा और प्रश्वा अर्थात् पीछे का कुत्ता और आगे का कुत्ता ये यदि नाम से वा परम्परा से वास्तव में आर्यों ही के हैं, तथापि खास ओरायन का नाम भी किसी प्राचीन आर्य शब्द का स्वरूपान्तर होना चाहिये ऐसा मानने में क्या हानि है ! ओरायन् यह नाम अत्यन्त प्राचीन काल में ग्रीक लोगों का रक्खा हुआ है। ओरा-यन्, कॉन्, प्रकान्, और अर्क्टॉस इन चारों शब्दों में कॉन् और प्रकॉन् ये दोनों शब्द संस्कृत के श्वन् और प्रश्वन् शब्दों के रूपा-न्तर हैं, और अर्क्टॉस यह ऋक्षस् का रूपान्तर है ऐसा निश्चय किया है। इस से ज्ञात होता है कि बाकी बचा हुआ ओरायन् भी किसी संस्कृत शब्द का ही रूपान्तर होना चाहिये ऐसा सहज ही में अनुमान होता है। परन्तु यह निश्चय करने का काम जरा कठिन है। ग्रीक ओरायन पारधी अर्थात् शिकारी था। अर्थात् उस की तुलना में यदि देखा जाय तो हमारा रुद्र है। परन्तु रुद्र के नामों में से कोई भी नाम ओरायन् नाम से नहीं मिलता है। परन्तु मृगशीर्ष-पुञ्ज के आग्रहायणनाम का मूल-स्वरूप जो आग्रयण शब्द उसका और ओरायन का साम्य दीखता है।

---

* व्याध। † पुनर्वसु के चार तारे मानने पर आकाश-गङ्गा के नजदीक के दो तारे।

आग्रयण शब्द का प्रथम अक्षर जो 'आ' है उसके बदले ग्रीक भाषा में 'ओ' हो सकता है। इस ही प्रकार आयन के स्थान में ग्रीक शब्द इ आन् हो सकता है। परन्तु र् के पूर्व ग् का लोप किस प्रकार हुआ यह कहना कठिन है। ऐसा लोप शब्द के आरम्भ में होता है इस प्रकार के तो उदाहरण हैं। परन्तु व्युत्पत्ति शास्त्र के मत से ग्रीक और संस्कृत भाषाओं के परस्पर संबन्ध में इस प्रकार का शब्दों में लोप होने का उदाहरण नहीं। इतर भाषाओं के संबन्ध में इस प्रकार के उदाहरण बहुत से हैं। और यह नियम ग्रीक वा संस्कृत भाषाओं के परस्पर संबन्ध में भी लगाया जाय तो आग्रयण शब्द से (ओर इ् ऑन्) ओरायन् शब्द की सिद्धि की जा सकती है। परन्तु ओरायन् का मूल यदि हमारे ठीक समझ में नहीं आवै तौ भी भिन्न भिन्न आर्य राष्ट्रों की दन्त-कथाओं में जो परस्पर सादृश्य है उस का मूल-स्वरूप कोई न कोई प्राचीन आर्य शब्द ही होना चाहिये इस में संशय नहीं। यह मूल की बात यदि ठीक न भी समझी जाय तो ऊपर किये हुए विवेचन में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती। इस उपपत्ति का आधार बहुत करके वैदिक ग्रन्थों के वाक्यों पर ही है। और उन सब वाक्यों का उद्देश्य वसन्त संपात एक समय मृगशिर नक्षत्र पर था यह बतलाने का है ये आप देख ही चुके हैं। इस उपपत्ति को पारसी और ग्रीक दन्त-कथाओं से अच्छा जोर मिलता है। इस ही तरह जर्मन लोगों की दन्त-कथाओं का भी इस उपपत्ति से अच्छा भेद खुलता है। बहुत सी वैदिक कथाओं का इस उपपत्ति से समाधान-कारक अर्थ लग जाता है ये बात पहिले दिखलाई जा चुकी है। इस प्रकार की यह उपपत्ति जिस से इतनी

बातों का, इतनी कहानियों का, इतनी दन्त-कथाओं का समाधान करने वाला अर्थ लग जाता है उस को सच्ची मानने में क्या हानि है ! परन्तु इस उपपत्ति के प्रत्यक्ष प्रमाण पूछे जायँ तो केवल वेद वचन ही दिखलाये जायँगे। और उन के दिखला चुकने पर इस बात में किसी भी प्रकार की शङ्का को जगह नहीं रह सकती। अस्तु।

वेदाङ्ग-ज्योतिष की कृत्तिका की स्थिति पर से निकाले हुए अनुमान पर मैक्समूलर ने आक्षेप किये हैं। क्योंकि उस स्थिति के संबन्ध में वेद में कोई उल्लेख नहीं। परन्तु वेद के समय यदि वसन्त संपात, मृगशीर्ष पर था तब कृत्तिका पर उसके होने के प्रमाण वेद में मिलेंगे कैसे ? परन्तु इस बात का कोई विचार न करके आज तक विद्वान् लोगों ने झूँठी बातों पर ही गप्पैं लड़ाई हैं। परन्तु यदि उन ने वैदिक सूक्तों का अच्छे प्रकार परीक्षण किया होता तो उन को यह बात सहज में ही विदित हो जाती। और फिर 'संवत्सर के अन्त में श्वान ऋभु के लिये जगह करता है।' इस वैदिक ऋचा का सच्चा अर्थ समझने में उन को अड़चन नहीं पड़ी होती। यम के कुत्तों का स्थान और वृत्र के वध की जगह इन बातों का वर्णन जो ऋग्वेद में है उस से तथा वृक उर्फ श्वान-पुञ्ज देवयान के किनारे वाला अपार समुद्र उलट आने पर सूर्य के उदय से पहले उगने लगता है; । इस वर्णन से उस समय के संपात की जगह स्पष्ट दीख आती है।

कितने ही विद्वानों का यह कहना है कि वैदिक ऋषियों को आकाशस्थ गोल की सामान्य गति के विषय में भी ज्ञान था सो नहीं मालूम होता; किंतु यह मत संदिग्ध है। अब की तरह कई

प्रकार के वेधयन्त्र उस समय नहीं थे, और इस ही कारण उस समय के वेध अब के जितने सूक्ष्म नहीं थे ऐसा यदि ऊपर लिखी बात का अर्थ हो तो यह बात अक्षर अक्षर सच्ची है। परन्तु वैदिक ऋषियों को सूर्य और उषा के सिवाय कुछ भी मालुम नहीं था, नक्षत्र महीने अयन वर्ष आदि बातें उन लोगों को बिलकुल ही नहीं मालूम थीं; ऐसा यदि इस का अर्थ हो; तो फिर इस कहने का ऋग्वेद में बिलकुल आधार नहीं है : अर्जुनी अघा ये नक्षत्रों के नाम ऋग्वेद* में आये हैं। इस ही प्रकार नक्षत्रों का सामान्य निर्देश †और चन्द्रमा का, और सूर्य‡ की गति से ऋतुओं के उत्पन्न होने का भी उल्लेख वेदों में है। देवयान और पितृयान इस नाम से वर्ष के दो अयन उस समय प्रसिद्ध थे। चान्द्र और सौर वर्षों का मेल बैठाने के लिये माने हुए अधिक महीने का वर्णन ऋग्वेद × में है। वरुण ने सूर्य के लिये किया हुआ विस्तीर्ण मार्ग जो ऋत है, और जिस में बारह आदित्य अर्थात् सूर्य रक्खे गये हैं और जिस मार्ग के सूर्य आदि ज्योति कभी भी उल्लंघन नहीं करते हैं वह अर्थात् क्रान्तिवृत्त का पट्ट है। प्रोफेसर लड-

---

* सूर्याया वहतुः प्रागात् सविता यमवासृजत्। अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते ॥ ऋ० १० । ८५ । १३

† सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही। अथो नक्षत्राणामेषा उपस्थे सोम आहितः ॥ ऋ० १० । ८५ । २

‡ पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परियातो अध्वरम्। विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायते पुनः ॥ ऋ० १० । ८५ । १८

× ऋ० १–२५–८

विग् के मत से तो ऋग्वेद में क्रान्तिवृत्त और विषुवद्वृत्त इन दोनों वृत्तों के बीच की नति अर्थात् तिरछेपन* का भी उल्लेख आया है। वेद-काल में सप्तऋषि 'ऋक्षाः'† इस नाम से प्रसिद्ध थे। ऋग्वेद में आया हुआ शतभिषक् अर्थात् शततारका नक्षत्र ही होना चाहिये ऐसा दीखता है। इस विचार से ऋग्वेद के पांचवें मण्डल का चालीसवाँ सूक्त तो बहुत ही महत्व का है। इस सूक्त में सूर्य के खग्रास ग्रहण का वर्णन है। इस सूक्त की एक ऋचा में अत्रि ऋषि ने 'सूर्य को तुरीय ब्रह्म ने जाना, यह कहा है ‡ इस का अर्थ अत्रि ऋषि ने तुरीय नाम के वेध-यन्त्र से ग्रस्त सूर्य का वेध किया ऐसा करना चाहिये। इस रीति से ऊपर लिखे सूक्त का खींचातान किये बिना ही सरल अर्थ लग जाता है। इस पर कितने ही विद्वानों का कथन है कि वैदिक ऋषियों को इतना ज्ञान होने पर भी उन लोगों को ग्रहों के विषय में ज्ञान नहीं था। परन्तु इस कथन में भी कोई सत्यांश नहीं। नक्षत्रों को देखते समय गुरु और शुक्र के तुल्य अधिक तेज के पुंज वाले ग्रहगोल उन को न दीखें यह केवल असंभव बात है। शुक्र का

---

* क्रान्तिवृत्त अर्थात् पृथ्वी का सूर्य के चारों तरफ भ्रमण करने का मार्ग, और पृथ्वी का पूर्व पश्चिम मध्यवृत्त अर्थात् विषुवद्वृत्त है। इस विषुवद्वृत्त की रेखा को आकाश तक ले जाई जावै तो जो एक आकाश में इस की सीध में वृत्त होगा वह आकाशीय विषुवद्वृत्त होगा। इस विषुवद्वृत्त और क्रान्ति वृत्त में अन्दाजन २३½ साड़े तेईस अंश का कोना है इस को ही ऊपर नति कहा गया है।

† 'सप्तर्षीनुहस्म वै पुरर्क्षा(पुरा ऋक्षा)इत्याचक्षते' शतपथ २।१।२।४.

‡ 'गूढं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्राह्मणा विन्ददत्रिः' ५. ४०. ६.

दन पूर्व की तरफ दीखना, उसके बाद कुछ दिन पश्चिम की तरफ दीखना इस ही प्रकार उन का कुछ नियत अंशों तक ऊपर आना इन बातों की तरफ आगे आगे देखने वालों का लक्ष्य न गया हो यह संभव नहीं। परन्तु इस संबन्ध में केवल अनुमान पर ही ठहर जाने की जरूरत नहीं। ब्राह्मण ग्रन्थों के समय ग्रह पहचान लिये गये थे इस में तो शङ्का ही नहीं। तैत्तिरीय ब्राह्मण* में 'बृहस्पति प्रथम तिष्य अर्थात् पुष्य नक्षत्र के समीप उत्पन्न हुआ' ऐसा वर्णन है। और आज भी गुरुपुष्य योग को बहुत मङ्गलकारी समझते हैं। अब खास ऋग्वेद ‡ के संबन्ध में देखना है। यज्ञों में जिन पात्रों की आवश्यकता होती है उन में दो पात्रों के शुक्र वा मन्थिन् ये नाम हैं। ऊपर एक जगह हम बतला चुके हैं उस के अनुसार ये नाम पात्रों को आकाश के ग्रहगोलों के नाम पर रक्खे गये हों ऐसा दीखता है। वार्षिक सत्र सूर्य की वार्षिक गति की प्रतिमा ही होती है। इस कारण यज्ञ की वस्तुओं को नक्षत्र ग्रहादिकों के नाम देना अत्यन्त स्वाभाविक होता है। ऊपर लिखे पात्रों को शुक्र का पात्र, मन्थिन् का पात्र इस प्रकार से ही तैत्तिरीय संहिता में कहा है। अब शुक्र वा मन्थिन् वगैरह शब्दों का सोमरस वा दूसरा इस ही प्रकार का कुछ अर्थ मानने का कोई प्रमाण नहीं। इस कारण ये

---

* बृहस्पतिः प्रथमं जायमानः। तिष्यं नक्षत्रमभिसंबभूव। तै० ब्रा० ३।१।१।५.

‡ ऋ० सं० ४-५०-४ में 'बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन्, लिखा है और तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी ऐसा ही वचन आया है।

नाम ग्रहों ही के थे इस में संशय नहीं। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में वेन का एक सूक्त है । वेन शब्द वेन् वा विन् (अर्थात् प्रीति करना) इस धातु से निकला है । इस सूक्त में 'सूर्य का पुत्र' 'ऋत के आगे' 'समुद्र की तरङ्गों की तरह समुद्र से आता है' इस प्रकार के उसके संबन्ध† में वाक्य हैं । इससे यह निश्चय होता है कि वेन यह नाम व्हीनस् शब्द का मूल आर्य रूप होगा । शुक्र-ग्रह वाचक व्हीनस लेटिन में प्रीति की देवता है । संस्कृत का वेन शब्द भी 'प्रीति करना' जिस का अर्थ है ऐसे वेन धातु से बना है । इसके सिवाय यज्ञ में शुक्र-पात्र लेते समय इस वेन के सूक्त का उपयोग किया जाता है । इस बात को खयाल में लाने से वैदिक वेन वा लेटिन् व्हीनस् ये एक ही होने चाहिये ऐसा मालूम होता है । अब इन शब्दों के लिङ्ग एक नहीं हैं । लेटिन् व्हीनस् स्त्री-लिङ्ग है परन्तु यह लिङ्ग-भेद कुछ बड़े महत्व का नहीं। यूरोप में चन्द्रमा का भी इस ही प्रकार लिङ्ग-विपर्यय हो गया है। शुक्र वेद काल में जाना जा चुका था इस बात का दूसरा प्रमाण ग्रीक भाषा का 'कुप्रिस्' यह शब्द है । यह शब्द भी शुक्र ग्रह-वाचक है । स्वर-शास्त्र के (Phonetics) के नियम के अनुसार संस्कृत शुक्र शब्द का ग्रीक रूप कुप्रास् ऐसा होगा । परन्तु यूरोप में जाने पर इस ग्रह का लिङ्ग-विपर्यय हो जाने से कुप्रास् का कुप्रिस् इस प्रकार से स्त्री-लिङ्गी रूप हुआ है । इस रीति से

---

† 'सूर्यस्य शिशुम्' (१०, १२३–१)
'ऋतस्य सानौ' (१०, १२३–२)
'समुद्रादूर्मिमुदियर्ति वेनः' (१०, १२३–२)

इस ग्रह के लेटिन और ग्रीक भाषाओं में क्रम से ह्वीनस और कुप्रिस् इस नाम की परम्परा वैदिक वेन वा शुक्र इन शब्दों से लगाई जा सकती है। इस से यह मालुम होता है कि तीनों प्रकार के लोक एक जगह रहते थे। उस समय शुक्र-ग्रह की जानकारी हो गई थी और इस ग्रह का नाम-करण भी हो गया था।

इस ऊपर लिखे हुए विवेचन में यद्यपि कुछ बातें संदेह भरी हैं तौ भी उन से यह निश्चय अवश्य होता है कि वैदिक ऋषियों को ज्योतिष की मोटी मोटी बातों का ज्ञान अवश्य था। चन्द्रमा और सूर्य की वार्षिक गति से होने वाला काल-विभाग उन ने स्थिर कर लिया था, सौर वर्ष का मान भी उन ने निश्चित किया था और चान्द्रवर्ष का उस से मेल बैठाया गया था। नक्षत्रों के उदयास्त की भी उन ने ठीक देख-भाल की थी। चन्द्रमा, सूर्य, और उन को जिन ग्रहों का ज्ञान था वे सब ग्रह आकाश के एक नाम के विशिष्ट † पट्टे को कभी भी उलांघ कर नहीं जाते ये उन ने समझ लिया था। चन्द्र और सूर्य के ग्रहणों की तरफ उन का बहुत लक्ष्य था। इतनी बातें जो लोग जानते थे उनके द्वारा अवश्य ही समय समय पर उगने वाले नक्षत्रों से सहज में ही मासारम्भ वर्षारम्भ वगैरह स्थिर किये ही जाने चाहिये।

---

† ये पट्टा अर्थात् राशिचक्र है; जिस को (Zodiac) कहते हैं। क्रान्ति-वृत्त के दोनों तरफ आठ आठ अंश तक का भाग इस में शामिल होता है। चन्द्रमा सूर्य वा और ग्रह इस ही भाग में सदा फिरते हैं, इस से बाहर कभी नहीं जाते हैं। अश्विन्यादि सब नक्षत्र भी इस ही पट्टे में है।

यन्त्रों की सहायता के विना ही दिन-रात कब बराबर होते हैं, इस ही प्रकार सूर्य दक्षिण की तरफ अथवा उत्तर की तरफ किस समय जाता है यह जानना कुछ कठिन नहीं। इस कारण इस प्रकार की साधारण बातें समझने की उन में शक्ति थी और वो उस ही प्रकार से जैसे समझनी चाहिये उन सब बातों को समझते भी थे, ये बात मानकर आगे का विवेचन करना चाहिये।

ऋग्वेद के पहिले मण्डल में † एक ऋचा है जिस का उल्लेख पहिले एक दो जगह आ भी चुका है उस में 'एक कुत्ता ऋभू के लिये संवत्सर के अन्त्य में जगाता है। इस अर्थ का विषय है। वह ऋचा यों है-

सुषुप्वांस ऋभवस्तदपृच्छतागोह्य क इदं नो अबूबुधत्।
श्वानं बस्तो बोधयितारमब्रवीत् संवत्सर इदमद्या व्यख्यत॥

अर्थ—हे ऋभुओ, तुम सोते उठ कर विचार कर रहे हो कि हे सूर्य अब हम को किस ने जगा दिया ? बस्ती ने (सूर्य=अगोह्य ने) कहा कि वह जगह करने वाला श्वान है। और यह भी कहा कि आज संवत्सर समाप्त हो जाने पर उस ने ऐसा किया है।

ऋभु अर्थात् सूर्य की किरणें है यह यास्क तथा सायणाचार्य का कथन है। परन्तु कई अन्य कारणों से कुछ यूरोप के विद्वानों के मत के अनुसार इस का अर्थ ऋतु करना अच्छा मालूम होता है। ये ऋतु अर्थात् ऋतु देवता वर्ष भर काम करके पीछे अगोह्य अर्थात् सूर्य के घर में बारह दिन तक शान्ति के साथ नींद में

---

† १.१६१.१३. ऋ.

सोता है यह वर्णन है। ये बारह दिवस अर्थात् चान्द्र और सौर वर्ष का मेल बैठाने के लिये रक्खे हुए अधिक दिन हैं। इन बारह दिनों का किसी भी वर्ष में अन्तर्भाव न होने से ऋतुओं ने अपना काम बन्द करके इन दिनों में शान्ति के साथ नींद ली, ये वर्णन वास्तव में ठीक ही है। अब प्रश्न इतना ही है कि ऋतुओं को जगाने वाला कुत्ता कौन है। ऊपर के लिखे विवेचन के अनुसार वह कुत्ता अर्थात् मृग पुंज के पास का श्वान पुँज ही होना चाहिये यह स्पष्ट है। अर्थात् तात्पर्य्य यह है कि इस तारकापुंज में सूर्य आया कि वसन्त ऋतु का और नये वर्ष का आरम्भ होकर ऋतुदेवता जग उठते हैं और अपना काम शुरू करते हैं। अर्थात् उस समय वसन्तसंपात श्वानपुँज के पास था। श्वानपुंज के पास वसन्तसंपात हुआ अर्थात् उत्तरायण का आरम्भ फाल्गुन ही पूर्णिमा को आता है और मृगशीर्ष नक्षत्र नक्षत्रमाला का आरम्भ होता है। इस रीति से तैत्तिरीयसंहिता के और तैत्तिरीयब्राह्मण के वचनों का अर्थ, लग जाता है। वसन्तसंपात मृगशीर्ष में था यह बतलाने वाला ऋग्वेद में यह स्पष्ट वाक्य है।

एक दूसरा भी इस ही प्रकार का स्पष्ट उल्लेख है। परन्तु वह जिस सूक्त में है उस का अर्थ आज तक किसी को अच्छी तरह मालूम ही नहीं हुआ। ये सूक्त अर्थात् दसवें मण्डल का वृषाकपि का सूक्त है। वृषाकपि अर्थात् कौन इस बिषयों में अनेक विद्वानों के † अनेक प्रकार के तर्क हैं। परन्तु इन सब विद्वानों के मत से यह सूर्य का कोई एक स्वरूप है। अब यह स्वरूप

---

† ऋग्वेद १०—९६.

वास्तव में कौन सा है यह देखना है। वृषाकपि शब्द विष्णु और शंकर दोनों का इन दोनों ही का बाचक है । पहले मृगशीर्ष के वर्णन में कहा जा चुका है इन दोनों देवताओं की कल्पना मृग-शीर्ष नक्षत्र के क्रम से सूर्योदय वा सूर्यास्त समय में उगने के योग से सूचित होने वाली बातों के कारण से ही उत्पन्न हुई होगी। इस बात को खयाल में लाने से वृषाकपि इस शब्द का अर्थ इस सूक्त में शरत् संपात में आया हुआ सूर्य मानना चाहिये । इस सूक्त में जो कथा है उस का सारांश थह है कि—

'वृषाकपि मृग रूप है और इन्द्र का मित्र है। परन्तु वह जहां उन्मत्त होता है वहां पर यज्ञ बन्द हो जाते हैं। इस मृग ने इन्द्राणी की कुछ पसन्द की चीजें नष्ट करदीं इस कारण वो इन्द्र पर मृग को इतना सिर चढ़ा लेने प्रयुक्त बहुत नाराज हो गई । परन्तु इन्द्र उस को कुछ दण्ड न देकर उलटा उसके पीछे पीछे जाने लगा। इस कारण इन्द्राणी को गुस्सा आया और उस हरिण का माथा काटने को निकली और उस हरिण के पीछे उस ने १ कुत्ता लगा दिया। परन्तु इतने ही में इन्द्र ने बीच में पड़कर इन्द्राणी को समझाया । फिर वो कहने लगी कि शीर्षच्छेदन आदि जो कुछ दण्ड इन्द्र के प्यारे हरिण को दिया गया वह दण्ड उसको नहीं मिला किंतु किसी दूसरे को ही मिला।

इसके अनन्तर वृषाकपि अपने घर में नीचे जाने लगा। तब इन्द्र ने उसको संदेश भेजकर यज्ञ का आरम्भ फिर से होना चाहिये यह कहकर अपने घर फिर आने के लिये कहलाया।

---

‡ 'हरौ विष्णुर्वृषाकपिः' अमर

उसके अनुसार जब वृषाकपि फिर इन्द्र के घर ऊपर की तरफ (उदञ्चः) आया तब उसके साथ वह पहले वाला मृग नहीं था। इस कारण वृषाकपि, इन्द्र, इन्द्राणी वहां पर आनन्द से मिले।" अब हम इस कथा में जो बात महत्त्व की है उसका बिचार करते हैं। वृषाकपि योग से यज्ञ बन्द हो जाता है, इन्द्राणी ने उसके पीछे कुत्ता लगा दिया तब वो अपने घर नीचे की तरफ (नेदीयसः) गया और फिर उसके इन्द्र के घर आने पर यज्ञ फिर आरम्भ हुए, ये इसमें महत्त्व की और न समझने को बातें हैं। परन्तु वृषाकपि इसका अर्थ मृगशीर्ष में वसन्त संपात होने के समय शरत्संपात् में आने वाला सूर्य मानना चाहिये ऐसा करने से ये सब बातें अच्छी तरह समझ में आती है। पहले एक स्थान पर कह चुके हैं कि पहले उत्तरायण उर्फ देवयान का आरम्भ वसन्त संपात से और दक्षिणायन उर्फ पितृयान का आरम्भ शरत्संपात् से होता था। अब ये बात प्रकट ही है कि पितृयान में कोई सा भी देवकर्म व यज्ञ नहीं होता था। जब मृगशिर नक्षत्र सूर्यास्त के समय उगने लगा पितृयान का आरम्भ हुआ। उसके पीछे कुत्ता लगाकर इस कथा में उस नक्षत्र की पहचान होने में अब बिलम्ब की आवश्यता नहीं। ये कुत्ता अर्थात् श्वानपुञ्ज ही है। अब इसके आगे प्रकट ही है कि वृषाकपि दक्षिणायन में चले जाने के कारण नीचे चला गया और आगे वसन्त संपात में फिर आ जाने पर अर्थात् देवयान में आने पर ऊपर आया फिर सिद्ध ही है कि नूतन वर्षारम्भ होने से यज्ञ यागादिक का आरम्भ हो जाता है। अब सूर्योदय के समय यह नक्षत्र उगने लग गया अर्थात् दीखने से बन्ध हो गया। सूर्य इन्द्र के घर अर्थात् उदग-

यन में आ गया इस कारण वह द्वार मृग नहीं जैसा हो गया। इस रीति से वृषाकपि रूपी सूर्य को शरत्संपात का सूर्य मान लेने से इस सूक्त का बहुत समाधान करके सरल अर्थ लग जाता है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि इस सूक्त में मृगशीर्ष वा श्वानपुंज का ही केवल वर्णन है किन्तु उस समय सूर्य जिस काल में विपुवद्वृत्त के उत्तर वा दक्षिण जाने लगता था उस समय की उसकी स्थिति का भी स्पष्ट वर्णन है।

इस कथा में यदि ऋभु की कथा और जोड़ दी जावे तो ये कथायें जिस समय रचना की गई उसका समय निश्चित करने में नहीं चूकने वाला विश्वास योग्य प्रमाण मिल चाता है। इस सब बातों का विचार करने से तैत्तिरीय संहिता और ब्राह्मणों में प्राचीन वर्षारम्भ केवल काल्पनिक न होकर वास्तव में उस समय पहले से परम्परागत होना चाहिये। ये बात अवश्य मान लेनी चाहिये। कहे हुए इस प्रकार तैत्तिरीय संहिता में दो वर्षारम्भों में से एक वर्षारम्भ की परम्परा ऋग्वेद तक ले जाकर पहुँचा दी। और उससे संबन्ध रखने वाली वैदिक कथाओं में, पारसी और ग्रीक नाम की दूसरी आर्य शाखाओं के पुराने ग्रन्थों से तथा उन जातियों में प्रचलित दन्त कथाओं से पूरी एकवाक्यता होती है यह आपने देख ही लिया। एक एक राष्ट्र की कथा पृथक् पृथक् संभव है निर्णय न हो सकें परन्तु उन कथाओं की परस्पर तुलना करते समय सब से एक ही अनुमान निकलता है ऐसा मालुम हो तो फिर उन सब का सारांश इकट्ठा किया जाय तो निर्णायक ही होना चाहिये। इन तीन राष्ट्रों की पुराण कथाओं में जो समानता है वह विद्वान् लोगों को कुछ समय से ही विदित

हुई है। परन्तु ये सब लोग जिस समय एक ही जगह रहते थे उस समय का कोई सुराख न लगने से इन सब कथाओं का उन को एकीकरण करना नहीं आया। परन्तु ओरायन के संबन्ध की कथाओं से और विशेष कर उसकी वसन्तसंपात की स्थिति पर से ये सुराख हम को लगता है और उस पर से अतिप्राचीन आर्य सुधारणा के समय के प्रमाण बड़ी समाधान करने वाली रीति से मिल जाते हैं। ओरायन कौन और कहां का यह अब समझ में आया। अब इन्द्र का वृत्र को किंवा नमुचिकों मारने का फेनात्मक शस्त्र क्या? चिन्वन् सेतु पर रक्खा हुआ चार आँख का कुत्ता कौन अथवा ऋभू के कुत्ते ने संवत्सर के अन्त में जगा दिया इसका क्या अर्थ इत्यादि कथाओं में अब तर्क करने की कोई आवश्यकता नहीं।

इतना समझ जाने पर फिर इस विषय में ज्योतिषशास्त्र विषयक कोई कठिनता नहीं रहती। नक्षत्रादिकों के स्थानपरिवर्तन पर हम समय की गणना करते हैं। परन्तु इस काल के मापने के कोष्ठक में संपात की प्रदक्षिणा के काल से भी जो बड़े परिमाण हैं वो अब तक नहीं जाने गये! यदि हम को प्राचीन-काल के नक्षत्रों के स्थान निश्चित रूप से मालुम हो जांय तथापि उस काल का मान निश्चित करने में ये उत्तम साधन होगा।

सदैव से ऐसे प्रकार के लेख ऋग्वेद में है और वो ग्रीक, पारसी, भारतीय आर्य एक स्थान पर रहते थे उस समय के हैं। ये आप पहले देख चुके हैं। अर्थात् उन कथाओं का ग्रीक और पारसी कथाओं की सहायता से हम स्पष्टीकरण कर सकेंगे। फाल्गुन की पूर्णिमा को किसी समय वर्षारम्भ होता था इस

बात को बतलाने वाले तैत्तिरीय संहिता वा तैत्तिरीय ब्राह्मण के वचनों को देखते देखते हम को मृगशीर्ष का एक ऐसा नाम मिलता है कि उसका वास्तविक अर्थ ले लिया जाय तो विदित होगा कि प्राचीन समय में एक समय वसन्तसंपात उस नक्षत्र पर था। इस से तैत्तिरीय संहिता के वचन की सत्यता का प्रमाण मिला। कारण फाल्गुन की पूर्णिमा को सूर्य्य यदि दक्षिणायन में हो तो पूर्ण चन्द्र अर्थात् सूर्य के ठीक सामने उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में होना चाहिए। अर्थात् उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में उत्तरायण का बिन्दु आया और वसन्त सम्पात मृगशीर्ष में* आया। इस ही परिमाण से दक्षिणायन यदि माघ की पूर्णिमा में हुआ तो वसन्त सम्पात कृत्तिका पर आता है। और पौष में होने पर वह सम्पात अश्विनी पर आता है। अर्थात् अश्विनी नक्षत्र और पौष मास तथा कृत्तिका और माघ, मृगशीर्ष और फाल्गुन ये अयन चलन के योग से क्रम से बदलने वाले वर्षारम्भ की जोड़िया हैं। ये सब वर्षारम्भ आर्य सुधारणा के भिन्न भिन्न समयों में अस्तित्व में थे यह दिखलाने वाली पुराण कथा और वचन बहुत से हैं ये आपने प्रथम के विवेचन में देख लिया है।

इस प्रकार यहाँ तक हमने तैत्तिरीय संहिता में बतलाये हुए दो प्राचीन वर्षारम्भों में से एक का विचार किया। परन्तु उसके ही समान और बहुत करके उन ही शब्दों में कहे हुए दूसरे बचन का अर्थ कैसे करना चाहिए। इसका उत्तर ये ही हो सकता है कि जिस प्रकार एक का किया इस ही प्रकार दूसरे का निर्णय

---

* चित्र देखिये।

भी करना चाहिए। फाल्गुन की पूर्णिमा को दक्षिणायन होने से वसन्त सम्पात मृगशीर्ष में आता है, उस ही तरह चैत्र पौर्णिमा को दक्षिणायन हो तो सम्पात पुनर्वसु में आता है। (चित्र देखिये) यह समय बहुत ही प्राचीन होता है। वेदों में संदिग्ध बातों के सिवाय उनके सम्बन्ध में कुछ नहीं मिलता है, और ग्रीक वा पारसी लोगों में ऐसी संदिग्ध बातें भी नहीं हैं।

पुनर्वसु में वसन्त सम्पात था अथवा उस नक्षत्र को नक्षत्र-चक्र में किसी समय पहला मानते थे। इस प्रकार स्पष्ट कहने वाले वचन नहीं मिलते अथवा उसके वाचक दूसरा एक-आध नाम भी नहीं कि जिस पर से आग्रहायण में मिलने वाली बातों जैसी बातों का पता लग सके। तथापि यज्ञ ग्रन्थों में पुनर्वसु की प्राचीन स्थिति के कुछ चिह्न हैं। अदिति पुनर्वसु की अधिष्ठात्री देवता ही है। और ऐतरेय† ब्राह्मण और तैत्तिरीय संहिता में ऐसा कहा गया है कि 'अदिति से सब यज्ञों का आरम्भ होना चाहिए; और अदिति के साथ ही सब की समाप्ति होनी चाहिए। ऐसा उसको वर मिला है।

यज्ञ देवताओं के पास से निकल गया तब उन लोगों को कोई विधि याद नहीं रही और वह कहाँ गया होगा ये भी उन लोगों को नहीं मालूम हुआ। ऐसी दशा में अदिति ने देवताओं की मदद करके यज्ञ का आरम्भ कर दिया। इस कारण ही ऊपर

---

† यज्ञो वै देवेभ्य उदक्रामत्ते देवा न किंचनाशक्नुवन् कर्तुं न प्राजानंस्तेऽब्रुवन्नदितिं त्वयेमं यज्ञं प्रजानामेति सा तथेत्यब्रवीत्सा वो वरं वृणा इति। वृणीष्वेति सैतमेव वरमवृणीत मत्प्रायणा यज्ञाः संतु मदुदयना इति तथेति। (ऐ० ब्रा० १-७)

लिखा हुआ वर उसको मिला है। इसका अर्थ ये है—उस समय से पूर्व यज्ञ जब चाहे तब किया करते थे। परन्तु तब से वह अदिति से आरम्भ करना चाहिए ऐसा निश्चित किया।। अर्थात् अदिति यज्ञ वा सम्वत्सर की आरम्भ करने वाली हुई। वाज सनेयी संहिता में (४।१९) अदिति को 'उभयतः शीर्ष्णी' अर्थात् 'दोनों तरफ मस्तक वाली' कहा गया है। और यह मस्तक अर्थात् अदिति से आरम्भ होने वाला और अदिति के पास ही समाप्त होने वाले यज्ञ के सिरे हैं; ऐसा टीकाकारों ने अर्थ किया है।

इन दो कथाओं को जोड़कर वेदकालिक आद्य पञ्चाङ्ग के सम्बन्ध में और कोई बात नहीं मिलती है। तथापि इस कथा से और चित्रा पूर्णमासी में वर्षारम्भ होता था और उस ही समय से वर्षारम्भ करने वाले पञ्चाङ्ग थे; यह सिद्ध होता है।

यहाँ तक हमने सब मिलाकर तीन प्रकार के पञ्चाङ्गों का विचार किया। उनमें से सबसे पहिले काल को हम अदिति काल किंवा मृगशीर्ष-पूर्व काल कहेंगे। और इसकी अवधि अनुमान से ईस्वी सन् से ६००० छै हज़ार वर्ष से पूर्व से लेकर २००० वर्ष तक है। इस समय में पूर्ण ऋचा वगैरह बनी हों ऐसा नहीं दीखता आधा गद्य और आधा पद्य इस प्रकार के वाक्यों में देवताओं के नाम वा उनकी विशेष संज्ञायें वा पराक्रम वगैरह जोड़े गये होंगे। उस समय का ग्रीक वा पारसी लोगों के पास कोई स्मारक नहीं रहा। और इसका कारण इतना ही हो सकता है कि ये लोग जिस समय अपना मूल-स्थान छोड़कर निकले तब उस समय का प्रचलित पञ्चाङ्ग मात्र ही साथ ले लिया। परन्तु भारत के

आर्यों ने अपनी परम्परागत बातें बड़ी युक्ति से श्रद्धापूर्वक यत्न करके रक्खी हैं।

अब जो दूसरा मृगशीर्ष काल है उसकी मर्यादा स्थूल-मान से ईस्वी सन् से पूर्वा २००० वर्ष से लेकर २५०० वर्ष तक है। यह समय आर्द्रा नक्षत्र से कृत्तिका नक्षत्र तक वसन्त सम्पात आने का समय है। यह समय सबसे महत्त्व का है। ऋग्वेद के बहुत से सूक्त इस ही समय बने। और कितनी ही कथाओं की रचना हुई। इस काल के उत्तर भाग में ग्रीक और भारतीय आर्य आपस में एक से एक अलग हुए। और इस ही कारण से उनके ग्रन्थों में तथा ऋग्वेद में कृत्तिका-काल के सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं मिलते।

यह समय विशेषकर सूक्त रचनाओं का था।

तीसरा अर्थात् कृत्तिका का समय है। इसकी अवधि ईस्वी सन् से पूर्व २५०० वर्ष से लेकर १४०० वर्ष पूर्व तक आती है। अर्थात् कृत्तिका में वसन्त सम्पात था उस समय से लेकर वेदाङ्ग ज्योतिष के काल तक है। तैत्तिरीयसंहिता तथा कितने ही ब्राह्मण ग्रन्थों का ये ही रचना-काल है। इस समय ऋग्वेदसंहिता पुरानी हो गई थी। और उसका अर्थ भी ठीक ठीक समझ में नहीं आता था। ऋकसूक्त और उनकी कथाओं के सच्चे अर्थ के विषय में उस समय के ब्रह्मवादियों में अर्थात् ज्ञानी लोगों में इच्छानुसार वाद विवाद होता था। नमुचि के मरने के सम्बन्ध में इन्द्र और नमुचि में ठहरी हुई प्रतिज्ञा एक इस ही प्रकार के तर्क का उदाहरण है। इस ही समय में संहिताओं को व्यवस्थित रूप प्राप्त हुआ। और अत्यन्त प्राचीन सूक्त और यज्ञ-वाक्यों

का अर्थ निश्चित करने का प्रयत्न हुआ। इस ही समय में भारतीय लोगों में और चीनी लोगों ने परस्पर मेल-मिलाप आरम्भ होकर चीनी लोगों ने भारतीयों से उनकी नक्षत्र-पद्धति उड़ाली।

प्राचीन संस्कृत वाङ्मय का चौथा काल अर्थात् ईस्वी सन् से १५०० वर्ष पूर्व से लेकर ५०० वर्ष पर्यन्त है। इसको बुद्धपूर्व कहते हैं। सूत्र ग्रन्थ और छै दर्शन इस समय में ही बने।

इस प्रकार जो समय हमने दिये हैं वो बिलकुल ठीक हैं ऐसा नहीं समझना चाहिये। जैसे जैसे पीछे जावें तैसे तैसे सौ दो सौ वर्ष तक का अन्तर तो कुछ नहीं के बराबर हो जाता है। तथापि स्थूलमान से वो ठीक ही है। इन सब में पुराना जो अदितिकाल है उस समय पंचाङ्गों की आवश्यकता हो गई थी। इस से जाना जाता है कि यह समय ही आर्यसुधारणा के आरम्भ का न होकर इससे कहीं बहुत पहले से आर्य-सभ्यता का आरम्भ हो गया था यह स्पष्ट है। दूसरा जो मृगशीर्ष काल है वह ईसवी सन् से पूर्व ४००० वर्ष से २५०० वर्ष पर्यन्त आता है। इस समय पारसी, ग्रीक और भारतीय आर्य जिस समय एक जगह रहते थे उस समय ही इन तीनों जातियों के अलग होने से पहले कुछ वेद का भाग तैयार हो गया था यह सहज में अनुमान होता है। इस अनुमान को तुलनात्मक व्युत्पत्ति-शास्त्र से और अच्छा प्रमाण मिल जाता है। पुरानी कथाओं में प्रायः ६० साठ नांव ग्रीक और संस्कृत भाषा के तुल्य शब्दों के हैं; ऐसा प्रोफेसर मैक्समूलर साहब ने दिखलाया है। इतने नाम यदि दोनों में समान हैं तो ऐसी दशा में उन नाम वाले देवताओं के कृत्यों के वर्णन करने वाले सूक्त उस समय न हों यह संभव नहीं। इन तीनों

जातियों के परस्पर विभक्त होने से पहिले कविता भी होने लग गई थी ऐसा जाना जाता है। क्योंकि श्लोक के चरण के वाचक संस्कृत पद-शब्द अवेस्ता के पध शब्द और ग्रीक के पौस शब्दों में समानता है।

अयन के चलन के कारण वर्षारम्भ दो बार बदला गया यदि ऐसा है तो उस वर्षारम्भ के मध्य की स्थिति के संबन्ध में और उस ही प्रकार ऋतु-कालों में होने वाले परिवर्तन के विषय में कहीं कुछ लिखा नहीं मिलता यह क्या ? और वैदिक लोगोंने उस समय अयनगति कैसे नहीं समझी ? ऐसे प्रश्न यदि कोई करे तो उसका समाधान करना कुछ अधिक कठिन नहीं। संपातगति समझने के लिये गणितादि शास्त्रों का भी ज्ञान होना चाहिये। और सैकड़ों वर्ष तक वेध भी लेने चाहिये। इन बाधाओं को विचार में लाने से विदित होगा कि अन्य सब राष्ट्रों के जानने से पहले भारतीयों ने अयनगति सूक्ष्म रूप से जान ली थी। हिपार्कस नाम के ग्रीक ज्योतिषी ने वह गति प्रतिवर्ष कम से कम ३६ विकला मानी है। परन्तु वास्तव में वह ५०¼ सवा पचास विकला है। भारतीय ज्योतियों के मत से वह ५४ विकला है। अर्थात् ये अयनगति ग्रीक लोगों से नहीं ली गई यह स्पष्ट है। यह गति उन लोगों ने स्वयं अपनी युक्ति से निकाली ऐसा मानना चाहिये।

अब मृगशीर्ष से कृत्तिका तक वा कृत्तिका से अश्विनी तक वसन्त-संपात आने के बीच की स्थिति के विषय में कहीं कुछ पता लगता है क्या यह देखना चाहिये। संवत्सर का देवता जो प्रजापति है उसका स्थान मृगपुञ्ज में है। परन्तु वह अपनी

कन्या ही का अर्थात् रोहिणी को इच्छा करके उसके पीछे पीछे चलने लगा। यह उसका काम नहीं करने योग्य हुआ। इस कारण रुद्र ने उसको मार डाला। इस कथा से वसन्त संपात के समय सूर्य मृगशिर नक्षत्र से धीरे धीरे हट कर रोहिणी की तरफ आने लगा यह स्पष्ट जाना जाता है। इसके आगे की स्थिति जिसमें वसन्त संपात कृत्तिका में आ गया वह है। इस समय में ऋतु एक महीना पीछे हट आये इस कारण उन लोगों ने वर्षारम्भ फाल्गुन से माघ में ला ठहराया और नक्षत्रों का क्रम मृगशिर के स्थान में कृत्तिका से आरम्भ किया।

इसके अनन्तर की स्थिति वेदाङ्ग-ज्योतिष में वर्णन की गई है। उस समय में ये ऋतुओं का आरम्भ और १५ दिन पीछे हट गया था। और वसन्त संपात भरणी में होने से उत्तरायण का आरम्भ धनिष्ठा के आरम्भ में आगया था। इसके आगे की उस समय की है कि जिस समय वसन्त संपात अश्विनी नक्षत्र पर था। इस समय ऋतु वेदाङ्ग ज्योतिष की अपेक्षा भी और १५ दिन पीछे आ गये थे। इस तरह का ऋतुओं का पञ्चाङ्ग के संबन्ध में फेरफार जो उचित और आवश्यक था विश्व ऋषि ने किया। महाभारत के † आदि पर्व में विश्वामित्र ने नवीन सृष्टि रचना करने का और नक्षत्र माला का धनिष्ठा के बदले श्रवण से आरम्भ करने का प्रयत्न किया ऐसा वर्णन है। और और पुराणों में भी यह बात लिखी है और उसमें विश्वामित्र ने एक प्रकार का नवीन आकाश उत्पन्न करने का विचार

---

† चकारान्यं च वै लोकं क्रुद्धो नक्षत्रसंपदा। प्रति श्रवण पूर्वाणि नक्षत्राणि चकार सः॥ आदिपर्व ७१–३४.

किया ऐसा वर्णन किया गया है। उसका अर्थ इतना ही है कि विश्वामित्र ने पञ्चाङ्ग को नवीन-स्थिति के अनुसार सुधारने का प्रयत्न किया परन्तु वह सिद्ध नहीं हुआ और पहले ही का प्रकार अर्थात् कृत्तिका से नक्षत्रों के आरम्भ करने की रीति प्रचलित रही। परन्तु अन्त में कुछ दिन के अनन्तर और अधिक फेरफार होकर नक्षत्रों का आरम्भ अश्विनी नक्षत्र से ही आरम्भ करने की रीति का आरम्भ हुआ।

इस प्रकार संपात चलन के विषय में क्रमवार एक नियम से उल्लेख संस्कृत वाङ्मय में मिलने से वेदों के प्राचीनत्व के विषय में कुछ भी शङ्का करते रहना ठीक नहीं। फाल्गुन की पूर्णिमासी में जिस समय वर्षारम्भ होता था उस समय की स्मृति भाद्रपद के (पूर्णिमान्त महीने के हिसाब से आश्विन मास के) पितृपक्ष से हम को होती है। इस विषय में पहले विवेचन आ ही चुका हैं। पहले हमारी श्रावणी की विधि भाद्रपद के महीने में होती थी यह वात मनुस्मृति † से जानी जाती है। उस समय वर्षा का आरम्भ भी इस महीने से ही होता था। क्योंकि श्रावणी की विधि वर्षा

---

† मनुस्मृति अध्याय ४ श्लो० ९५ श्रावणी विधि के दो भाग हैं उपाकर्म में और दूसरा उत्सर्जन इन दोनों के पृथक् पृथक् विकल्प से दो दो काल मनुस्मृति में दिये हैं। वो इस प्रकार हैं—

श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वा प्युपाकृत्य यथा विधि। युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान्विप्रोऽर्धं पञ्चमान्। पुष्ये तु छन्दसां कुर्याद्बहिरुत्सर्जनं द्विज। माघ शुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्णे प्रथमेऽहनि॥ प्रौष्ठ—अर्थात् भाद्रपद की पूर्णमा। यह काल का विकल्प शाखानुरोध से है ऐसा टीकाकारों ने लिखा है

काल के आरम्भ में होने चाहिये ऐसा आश्वलायन गृह्यसूत्र से विदित होता।

(आ० गृ० सू० ३।५।२) परन्तु आगे चलकर वह श्रावण के महीने में होने लगा। इस में कारण यह है कि संपात के हट जाने से वर्षा ऋतु १ महीना पीछा हट गया। और वह उस ही प्रकार हटते हटते अब तो ज्येष्ठा तक आ गया है। इस बात को देखते ऋतुओं के समय में होने वाले फेर फार के चिन्ह हमारे साहित्य में किसी अंश में मिलते हैं ऐसा कहा जाय तो कोई हानि नहीं। परन्तु इस प्रमाण को वर्षारम्भ में होने वाले फेर बदल के जितने प्रमाण मिलते हैं और उन को जितना महत्व है उतना महत्व नहीं दिया जा सकता। कारण उस में ये हैं कि भिन्न भिन्न स्थानों में ऋतु भिन्न भिन्न समयों में होते हैं। अस्तु।

अब इतना ही देखना बाकी रह गया है कि इतने प्रमाणों के द्वारा निश्चित किया हुआ वेदकाल प्राचीन वा नवीन विद्वानों के मत के अनुकूल भी है कि नहीं। जर्मन के पण्डित साहब ने भूगोल और इतिहास विषयक प्रमाणों से ऐसा अनुमान निकाला कि भारत के साहित्य का आरम्भ भारतीय लोग और पारसी लोग जिस समय एक स्थान में रहते थे उस समय तक पहुँचाया जा सकता है। झेन्द अवेस्ता नाम के पारसी लोगों के धर्म ग्रन्थ में ऐसे कुछ भाग हैं कि जिन को वैदिक सूक्तों का रूपान्तर माना जा सकता है। इस प्रमाण से वेबर साहब के ऊपर लिखे हुए कथन को बड़ी पुष्टि मिलती है। डाक्टर हौ के मतानुसार वेबर का कथन सत्य ठहराने को वेद ग्रन्थों का काल ईसवी सन् से पूर्व २४०० वर्ष मान लिया जावै तो बस है। परन्तु पारसी लोग

जिस समय एकत्र रहते थे उस समय वसन्त संपात मृगशिर नक्षत्र पर था यह दिखलाया जा सकता है ये बात डा० हौ को मालुम नहीं थी परन्तु अब मालुम होने पर वेदकाल ईसवी सन् से पूर्व ४००० वर्ष जितना पीछे ले जाने में कोई भी सयुक्तिक आपत्ति नहीं आती।

पारसी धर्म का संस्थापक जो जोरास्तर है वह यूरोप के ट्रोजन युद्ध से (जो ईसवी सन् से पूर्व १८०० वर्ष पहले हुआ था) अनुमान ६०० वर्ष पूर्व हुआ था ऐसा लीडिया देश के झँथस नाम के ग्रन्थकार का मत है। यह ग्रन्थकार ईसवी सन् से ४७० वर्ष पूर्व का है। हमारे हिसाब को देखते पारसी और हिन्दू लोग मृग शीर्षकाल के द्वितीयार्ध में (ईसवी सन् से पूर्व ३००० से २५०० तक) आपस में एक से एक दूर हुए। अब यदि ये मान लिया जाय कि ये बात डा० हौ आदि विद्वानों के मतानुसार इस समय से बहुत पीछे हुई तो ईसवी सन् ५ वें शतक के ग्रन्थकारों ने इस बात को कुछ ही दिन पहले हुई ऐसा लिखा होता। परन्तु ऊपर लिखे अनुसार झंथस ऐसा नहीं कहता है। अर्थात् इस बात से पारसी और हिन्दी लोग जिस समय एक से एक अलग हुए वह काल ईसवी सन् से पूर्व २५०० वर्ष पूर्व से और आगे आगे होना चाहिये। अब ग्रीक तत्त्ववेत्ता आँरिस्तातल (जो ईसवी सन् से ३२० वर्ष पूर्व था) वह इससे और आगे जाकर कहता है कि झोरास्टर प्लेटो से ५००० वा ६००० वर्ष पहले हुआ था। यदि इस अङ्क को अति निश्चित न भी मानें तथापि इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आँरिस्तातल से पहले जोरास्तार बहुत प्राचीनकाल में हो गया ऐसी लोगों की

समझ हो चुकी थी यह स्पष्ट दीखता है। अब जोरास्तर यदि इतना प्राचीन हो तो स्पष्ट ही है कि वेद उससे भी प्राचीन होने चाहियें।

दूसरी एक और बात बिचार करने लायक है कि ग्रीस देश में होमर कवि ने ईलियड नाम का काव्य ईस्वी सन् से १००० वर्ष पूर्व रचा था। और इलियड काव्य वा वैदिक ग्रन्थों की भाषा इतनी भिन्न है कि ग्रीक और हिन्दू इन दोनों जातियों का फटाव होने के बहुत काल पीछे दोनों की भाषाओं में भेद पड़ने के लिए हज़ारों वर्ष बीतने चाहिए। अर्थात् ओरायन अथवा मृगशीर की कथा रची जाने के पीछे और वसन्त सम्पात कृत्तिका में आने से पहले अर्थात् ईस्वी सन् से पूर्व ३५०० से ३००० वर्ष तक के अनुमान ग्रीक ओर हिन्दू जातियों का फटाव हुआ ऐसा कहना अधिक उचित होगा।

हमारे अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि वा महा विद्वान् ब्रह्मज्ञानियों का वा पण्डितों का जो यह मत है कि वेद अनादि वा ईश्वरदत्त हैं इसका विचार करते हैं।

वेद जैसे प्रकट हुए हुए ग्रन्थ अर्थात् अनादि होने चाहिए ऐसा नियम नहीं है। किसी नियत समय में कोई ग्रन्थ प्रकट हुआ इस बात को मानने वाले लोक हैं और ऐसा माना भी जा सकता है ये बात बाइबिल वा कुरान इन दोनों धर्म ग्रन्थों के इतिहास से प्रकट होगी। बाइबिल (नया करार) ईशू खृष्ट के समय अर्थात् १९०० वर्ष पहले और कुरान महम्मद पैगम्बर के समय अर्थात १३०० वर्ष पूर्व बने हैं ये सब जानते हैं। ये दोनों ग्रन्थ प्रकट हुए हैं ऐसा उस धर्म के लोक मानते हैं। और वो

ग्रन्थ ऊपर लिखे हुए समय में प्रकट हुए हैं ऐसा भी वो मानते हैं। अर्थात् प्रकट हुए हुए ग्रन्थ अनादि ही होने चाहिए यह कोई नियम नहीं है।

ऐसा यदि है तो श्रुति ग्रन्थ प्रकट हुए हुए हैं इतने ही से अनादि हैं ऐसा कहना ठीक नहीं हो सकता। अर्थात् ब्रह्मवादी लोगों का ऐसा मत होने में दूसरा कुछ कारण होना चाहिए। इन ब्रह्मवादियों में से कितने ही लोग ईस्वी सन् से पूर्व सैंकड़ों वर्ष पहिले हो चुके हैं। और उस समय वेद अनादि हैं ऐसी पुराने समय से आई हुई परम्परागत कल्पना पर ही उन लोगों ने अपना मत ठहराया था ऐसा ऊपर किये हुए विवेचन में स्थिर किये हुए वेद काल से सिद्ध होता है।

खृस्ती धर्मशास्त्र के अनुसार देखने से जगत् की उत्पत्ति ईस्वी सन् से पूर्व ४००० वर्ष से अनुमान सिद्ध हुई। अर्थात् खृस्ती ग्रन्थकारों की प्राचीनता कल्पना करने की मंजिल इस वर्ष संख्या से आगे नहीं पहुँच सकी। और ४००० से पूर्व को कोई बात समझ में न आने से जगत् की उत्पत्ति ही उस समय हुई ऐसा उन लोगों ने स्थिर कर लिया।

हमारे ब्रह्मवादियों का भी लगभग ये ही प्रकार दीखता है। ऊपर दिखलाया जा चुका है कि वैदिक काल में विशेष उन्नति का समय ईस्वी सन् से पूर्व ४००० वर्ष के लगभग था। और यहभी सम्भव है कि कदाचित् इससे और भी प्राचीन हो, क्योंकि ऐसा कहने के लिए भी थोड़े बहुत प्रमाण हैं।

वेदों का स्वरूप अक्षरशः वैसे का वैसा न रहकर काल वश उनमें कुछ अन्तर पड़ गया हो परन्तु उनका तात्पर्य कुछ बदला

ष्शियन् लोगों से ज्योतिष-शास्त्र की परिभाषा जिस समय उड़ाली उस समय ये सब कथायें नष्ट हो जातीं परन्तु सदैव से ओरायन् आदि नाम और इस सम्बन्ध की कथायें केवल इतनी बात उस समय बच रही। इस ही प्रकार दूसरा अवसर भी आया था। वह वो था कि नेल्सन वा नेपोलियन इन वीरों ने जब बड़े बड़े पराक्रम दिखलाये उस समय उनके सम्मान हेतु वा उनका नाम चिरस्थाई करने के हेतु इंग्लैंड वा जर्मनी में ऐसा विचार उत्पन्न हुआ था कि मृगशीर्ष पुञ्ज का पहले का ओरायन नाम बदल कर नेल्सन वा नेपोलियन् ऐसे नाम देने चाहिए। परन्तु ओरायन के सुदैव से यह अवसर भी टल गया। और आज तक साहस प्रिय वा देदीप्यमान जो ओरायन् है वह अपने सेवक जो केनिस् (श्वान) है उसके साथ नेल्सन् वा नेपोलियन् के समय से कितने ही गुणे अधिक महत्व वा परम पवित्र जो आर्य लोकों का इतिहास है उसके एक प्राचीन काल का स्मरण दिला रहा है।

समाप्त।

परिशिष्ट

तैत्तिरीय संहिता का तीन प्रकार के भिन्न भिन्न
वर्षारम्भ बतलाने वाला अनुवाक—

संवत्सराय दीक्षिष्यमाणा एकाष्टकायां दीक्षेरन्नेषा वै संवत्सरस्य पत्नी यदेकाष्टकैतस्यां वा एष एता ँ रात्रिं वसति साक्षादेव संवत्सरमारभ्य दीक्षन्त आर्तं वा एते संवत्सरस्याभिदीक्षन्ते य एकाष्टकायां दीक्षन्तेंतनामानावृतू भवतः फल्गुनीपूर्णमासे दीक्षेरन्मुखं वा एतत् संवत्सरस्य यत्फल्गुनीपूर्णमासो मुखत एव संवत्सरमारभ्य दीक्षन्ते तस्यैकैव निर्या यत्साम्मेध्ये विषूवान्त्संपद्यते चित्रापूर्णमासे दीक्षेरन्मुखं वा एतत्संवत्सरस्य यच्चित्रापूर्णमासो मुखत एव संवत्सरमारभ्य दीक्षन्ते तस्य न काचन निर्या भवति चतुरहे पुरस्तात्पौर्णमास्यै दीक्षेरन्तेषामेकाष्टकायां क्रयः संपद्यते तेनैकाष्टकां न छम्बट् कुर्वन्ति तेषां पूर्वपक्षे सुत्या संपद्यते पूर्वपक्षं मासा अभिसंपद्यन्ते ते पूर्वपक्ष उत्तिष्ठन्ति तानुत्तिष्ठत वनस्पतयोनूत्तिष्ठन्ति तान्कल्याणी कीर्तिरनूत्तिष्ठत्यरात्सुरिये यजमाना इति तदनु सर्वे राध्नुवन्ति ।

(तैत्ति० स० ७–४–८)

इस ही अर्थ वाला सामवेद के ताण्ड्य ब्राह्मण का

अनुवाक—

एकाष्टकायां दीक्षेरन् ॥ १ ॥

एषावै संवत्सरस्य पत्नी यदेकाष्टकैतस्यां वा एता ँरात्रिं वसति साक्षादेव तत्संवत्सरमारभ्य दीक्षन्ते ॥ २ ॥

तस्य सा निर्या यदपोऽनभिनन्दन्तो ऽभ्यवयन्ति ॥ ३ ॥

विच्छिन्नं वा एते संवत्सरस्याभिदीक्षन्ते य एकाष्टकायां दीक्षन्तेऽतनामानावृतू भवतः ॥ ४ ॥

आर्तं वा एते संवत्सरस्याभिदीक्षन्ते येऽतनामानावृतू अभिदीक्षन्ते ॥ ५ ॥

तस्मादेकाष्टकायां न दीक्ष्यम् ॥ ६ ॥

फाल्गुने दीक्षेरन् ॥ ७ ॥

मुखं वा एतत्संवत्सरस्य यत्फाल्गुनी मुखत एव तत्संवत्सरमारभ्य दीक्षन्ते ॥ ८ ॥

तस्य सा निर्या यत्सम्मेघे विषुवान् संपद्यते ॥ ९ ॥

चित्रापूर्णमासे दीक्षेरन् ॥ १० ॥

चक्षुर्वा एतत् संवत्सरस्य यच्चित्रापूर्णमासो मुखतो वै चक्षुर्मुखत एव तत्संवत्सरमारभ्य दीक्षन्ते तस्य न निर्याऽस्ति ॥ ११ ॥

चतुरहे पुरस्तात् पौर्णमास्या दीक्षेरन् ॥ १२ ॥

तेषामेकाष्टकायां क्रयःसंपद्यते तेनैकाष्टकां न संवट कुर्वन्ति ॥१३॥

तेषां पूर्वपक्षे सुत्या संपद्यते पूर्वपक्षे मासाः संतिष्ठमाना यन्ति

पूर्वपक्ष उत्तिष्ठन्ति तानुत्तिष्ठतः पशवः ओषधयोऽनूत्तिष्ठन्ति तान् कल्याणी वागभिवदत्यरात्सुरिमे सत्रिण इति ते राध्नुवन्ति ॥ १४ ॥

(ताण्ड्य ब्राह्मण ५-९)

ऋग्वेद के दशम मण्डल में वृषाकपि का सूक्त—

विहि सोतोरसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत ।

यत्रा मंदद्वृषाकपिरर्यः पुष्टेषु मत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥१॥

इस सूक्त में इन्द्र, इण्द्राणी और वृषाकपि के संवाद का वर्णन है। परन्तु इस में भिन्न भिन्न ऋचायें किस किस की उक्ति है, इस संबन्ध में टीकाकारों का मतभेद है। सायणाचार्य प्रथम ऋचा को इन्द्र की उक्ति बतलाते हैं, किंतु माधवभट्ट के मत से यह इन्द्राणी की उक्ति है, ऐसा सायणाचार्य ही लिखते हैं। इन्द्राणी इन्द्र से कहती है—

अर्थ—स्वामी वृषाकपि जिस स्थान में (सोम की) समृद्धिवाले यज्ञ में प्रसन्न होता है, (उस स्थान में यजमान) सोमाभिषव से लौट कर इन्द्रदेव को कुछ नहीं मानता ऐसा होता है। तथापि मेरा मित्र इन्द्र विश्व के उत्तर भाग में है॥ १ ॥

परा हीन्द्र धावसि वृषाकपेरति व्यथिः।

नो अह प्रविन्दस्यन्यत्र सोमपीतये विश्व० ॥ २ ॥

(माधवभट्ट ने—इन्द्राणी के लिये तैयार किया हुआ हविर्द्रव्य वृषाकपि (इन्द्र पुत्र) रूपी किसी मृग ने दूषित कर दिया इस कारण वह इन्द्र से कहती है—यह इस सूक्त का संदर्भ दिया है। प्रथम ऋचा में लिखे अनुसार जब इन्द्राणी ने इन्द्र से कहा तब इन्द्र वृषाकपि के पीछे जाने लगा, उस समय फिर इन्द्राणी उससे कहती है।)

अर्थ—हे इन्द्र ! तू वृषाकपि के पीछे जोर से दौड़ता है और सोमपान के लिये और कहीं नहीं जाता है (यह कैसे ?) इन्द्र विश्वके इत्यादि। [इसमें परा अर्थात् वृषाकपि जहां गया वह प्रदेश है।]

किमयं त्वां वृषाकपिश्चकार हरितो मृगः ।
यस्मा इरस्यसीदुन्व१र्यो वा पुष्टिमद्वसु विश्वं० ॥ ३ ॥

(अनुक्रमणिका का अनुसरण करके सायणाचार्य इस ऋचा को इन्द्राणी की समझते हैं। इसका अर्थ ये है—('हे इन्द्र) इस (वृषाकपि रूपी) हरितवर्ण के मृग ने तेरा ऐसा क्या (प्रिय) किया है; जो उसको तू किसी उदार मनुष्य की तरह पोषयुक्त धन देता है। इन्द्र० परन्तु कुछ जर्मन देश के विद्वान् इस ऋचा को इन्द्र की उक्ति बतलाते हैं) .

अर्थ—(हे इन्द्राणि,) इस हरितवर्ण के मृग ने तेरा ऐसा क्या (नुकसान) किया कि तू उस पर इतना क्रोध करे ? वह क्या पोष युक्त धन था क्या ? इन्द्र विश्व के उत्तरभाग में हो है ॥ ३ ॥

यमिमं त्वं वृषाकपिं प्रियमिन्द्राभि रक्षसि ।
श्वान्वस्य जंभिषदपि कर्णे वराहयुर्विश्वं ॥ ४ ॥

प्रिया तष्टानि मेकपिर्व्यक्ता व्यदूदुषत् ।
शिरोन्वस्य राविषं न सुगं दुष्कृते भुवं विश्वं० ॥ ५ ॥

(दूसरी ऋचा में इन्द्र की वृषाकपि के सबन्ध में जो प्रीति थी; इस बाबत इन्द्राणी उस पर नाराज हो गई। परन्तु इतने से उसकी तृप्ति न हुई और वह उसको यह और कहती है।)

अर्थ—हे इन्द्र, जिस लिये तू अपने प्रिय वृषाकपि का रक्षण करता है, इसलिये वराह की इच्छा करनेवाला कुत्ता उसके कान को काटता है। (कारण,) इस कपि ने मेरे पसन्द का घृत युक्त पदार्थ नष्ट कर दिया (अर्थात्) इस कारण वास्तव में मैंने उसका माथा ही केवल काट डाला है, कारण ये है कि पाप करनेवाले को सुख नहीं होना चाहिये। इन्द्र विश्व की इत्यादि ॥ ४ ॥ ५ ॥

[चित्र में दिखलाये हुए अनुसार मृगशीर्ष का आकार कल्पना करने पर मृग के कान को काटने वाळा कुत्ता अर्थात् कैनिस मेजर (श्वान) उर्फ व्याध है यह सहज में समझ में आ जायगा ।]

मत्स्त्रीन सुभसत्तरा न सुयाशुतरा भुवत् ।

न मत्प्रतिच्यवीयसी न सक्थ्युद्यमीयसी विश्व० ॥ ६ ॥

(इस मन्त्र में इन्द्राणी अपनी धन्यता मानती है । वह कहती है)

अर्थ—मेरे सिवाय दूसरी कोई स्त्री भाग्यवती नहीं है, और न सुखी है । इसही प्रकार मेरे सिवाय दूसरी कोई भी अपने पति को सब प्रकार से आनन्द देने वाली भी नहीं है । इन्द्र विश्व के० ॥ ६ ॥

उवे अंब सुलाभिके यथेवाङ्ग भविष्यति ।

भसन्मे अंब सक्थि मे शिरो मेवीव हृष्यति विश्व० ॥७॥

किं सुबाहो स्वंगुरे पृथुष्टो पृथुजाघने ।

किं शूरपत्नि नस्त्वमभ्यमीषि वृषाकपिं विश्व० ॥ ८ ॥

(अनुक्रमणिका के अनुसार सायनाचार्य इन ऋचाओं को क्रम से वृषाकपि और इन्द्र की तरफ लगाते हैं । परन्तु उसके अनुसार पहिली का अर्थ ठीक नहीं जचता है । इस कारण दोनों ऋचायें इन्द्रकी ही बाबत समझना अच्छा है । सायनाचार्य का अर्थ है—हे भाग्यशालिनी माता ! तू कहती है वैसे ही होवो । मेरे पिता को (इन्द्र को तेरा सारा शरीर आनन्द देवो इत्यादि । इसमें मे इसका अर्थ मुझको ऐसा सीधा न करके मे पितरं अर्थात् मेरे पिता को ऐसा लेना पड़ता है । इस कारण ये शब्द इन्द्र के मुख से अच्छो शोभा देते हैं ।)

अर्थ—हे भाग्यशालिनी स्त्री ! तू कहती है उसही प्रकार सत्य है ।

तेरे सब अवयव (भसत्, सक्थि, वाशिर) मुझको सुखदायी ही हैं। (परंतु) हे शोभन स्त्री ! (सुन्दर बाहु, सुन्दर, अंगुली, सुन्दर केश व सुन्दर श्रवन स्थलवाली) हे शूरपत्नि, तू अपने वृषाकपि पर इतनी क्यों नाराज़ हुई ? इन्द्र विश्व के उत्तर भाग ही में है ॥ ७ ॥ ८ ॥

अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते ।
उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा विश्व० ॥ ९ ॥

(इन्द्राणी इस पर उत्तर देती है ।)

अर्थ—हे घातक, (मृग—वृषाकपि) मुझको (मानों) तू अवीरा समझता है। परतु मैं वीरमाता, इन्द्र की पत्नी वा मरुत की मित्र हूँ। इन्द्र विश्व के इत्यादि ॥ ९ ॥

संहोत्रं स्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति ।
वेधा ऋतस्य वीरिणीन्द्रपत्नी महीयते विश्व ॥ १० ॥
इन्द्राणी मासु नारिषु सुभगामहमश्रवम् ।
नह्यस्या अपरं चन जरसा मरते पतिर्विश्व० ॥ ११ ॥

(समंम के विद्वान् १० वीं ऋचा वृषाकपि की और ११ वीं वृषाकपायी की समझते हैं। सायणाचार्य दोनों ऋचाओं को इन्द्र ही की समझते हैं। कैसे भी माना जाय किंतु अर्थ में अधिक अन्तर नहीं होता।)

अर्थ—सत्य की विधात्री, वीर प्रसवा, वा इन्द्रपत्नी ऐसी ये जो स्त्री है वो यज्ञ में वा संग्राम में जाती है और सर्वत्र उसकी स्तुति होती है। इन्द्र विश्व के इत्यादि। सब स्त्रियों में इन्द्राणी भाग्यवती है ऐसा सुना जाता है। कारण उसका पति जो इन्द्र है वह बुड्ढा होकर कभी भी मरता नहीं है ॥ १० ॥ ११ ॥

नाहमिन्द्राणि रारण सख्युर्वृषाकपेर्ऋते ।
यस्येदमप्यं हविः प्रियं देवेषु गच्छति विश्व० ॥ १२ ॥

(ये ऋचा इन्द्र की उक्ति में है)

अर्थ—हे इन्द्राणी, (मेरा) मित्र जो वृषाकपि है उसके बिना मुझको चैन नहीं पड़ता। उसकी पसन्द की चीज जल से पवित्र हवि देवताओं की तरफ जाता है। इन्द्र विश्व की० इत्यादि ॥ १२ ॥

वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्नुषे ।
घसत्त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित्करं हविर्विश्व० ॥ १३ ॥

(इस ऋचा में वृषाकपायि इस शब्द ने बड़ो गड़बड़ मचाई है। वृषाकपायी अर्थात् वृषाकपिकी माता ऐसा कितने ही समझते हैं, और कितने ही वृषाकपि की स्त्री ऐसा समझते हैं। यह ऋचा इन्द्राणी को उद्देश करके कही हुई होने के कारण दूसरा अर्थ मानने पर वृषाकपि अर्थात् इन्द्र को वृष[illegible] समझना चाहिये। पिछली ऋचा में कहा हुआ वृषाकपि की पसन्द का हवि खाने के लिये इन्द्र इन्द्राणी से आज्ञा मांगता है।

अर्थ—हे धनवति, हे सुपुत्रवाली, हे अच्छी पुत्रवधूवाली इन्द्राणि इस तेरे इन्द्रको वृषभरूपी सुखकर वा पसन्द आया हुआ हवि खाने दे। (कारण) इन्द्र विश्व का० इत्यादि ॥ १३ ॥

उक्ष्णो हि मे पञ्चदश साकं पचन्ति विंशतिम् ।
उताहमद्मि पीव इदुभा कुक्षी पृणन्ति मे विश्व० ॥ १४ ॥

अर्थ—मेरे लिये एकदम पन्द्रह या बीस उक्षा [यजमान] खिलाता है। मैं उनको खाकर लट्ठ यानी करड़ा या मजबूत हो जाऊँगा। और मेरी दोनों कूखें उससे भर जांयगी ॥ १४ ॥ [सच्चे उक्षा सिखाने की चाल ऋग्वेद

के समय में भी नहीं थी। ऋ, १, १६४, ४३ में 'उक्षाणं' पृश्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्या सन्'—वीर्यशाली यजमान मजबूत उक्षा सिकाते थे। परन्तु वो धर्म पुराने थे। ऐसा कहा है। २८ नक्षत्र और ७ ग्रह कुल मिला कर ३५ उक्षा इस स्थान में माने गये होंगे ऐसा जाना जाता है।

वृषभो न तिग्म शृङ्गोऽन्तर्यूथेषु रोरुवत्।
मंथस्त इन्द्रशं हृदे यंत सुनोति भावयुर्विश्वं ॥ १५ ॥

न सेशे यस्य रंबतेऽन्तरा सक्थ्या ३ कपृत्।
सेदीशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते विश्व० ॥ १६ ॥

न सेशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृंभते।
सदीशे यस्य रंबतेऽन्तरा सक्थ्या३कपृद्विश्वं० ॥ १७ ॥

अर्थ—(इन्द्राणी कहती है—) तीखे सींगों वाला बैल जिस प्रकार गौओं के समूह में गर्जना करता है और क्रीड़ा करता है (उसही प्रकार हे इन्द्र, तू मेरे पास क्रीड़ा कर) मथने के दण्ड की आवाज और प्रेम की इच्छा करनेवाली (इन्द्राणी) तेरे लिये जो सोमरस निकालती है वह तेरे हृदय को सुखकारक होवो ॥ १५ ॥

(१६ वीं वा १७ वीं इन दोनों ऋचाओं में इन्द्र और इन्द्राणी के बीच मैथुन सम्बन्धी सम्वाद का वर्णन है।)

अयमिन्द्र वृषाकपिः परस्वंतं हतं विदत्।
असिं सूनां नवं चरुमादेधस्यान आचितं विश्वं० ॥ १८ ॥

अयमेमि विचाकशद्विचिन्वन्दा समार्यम्।
पिबामि पाक सुत्वनोमि धीरमचाकशं विश्वं० ॥ १९ ॥

अर्थ—(इस प्रकार प्रसन्न होने पर इन्द्राणी कहती है) हे इन्द्र, दूसरा जो मारा प्राणी है (वृषाकपि नहीं) वह इस वृषा कपि को ही ले लेने दे, और (उस प्राणी को काटकर सिझाने के लिये) एक शस्त्र, चूल्हा, एक नया बर्तन और इँधन से भरी हुई एक गाड़ी भी उसको लेने दे। (इस प्रकार इन्द्र बीच में पड़जाने के कारण वृषाकपि बचाया गया। इन्द्राणी जिसका मस्तक काटने को तैयार हुई वह मृग वृषाकपि नहीं किंतु दूसरा ही कोई था ऐसा इन्द्राणी के कहने पर आर्य वृषाकपि के संरक्षण के लिये आनन्दित होकर इन्द्र कहता है)

अर्थ—इस प्रकार मैं दास और आर्य इनमें भेद देखा जाता है। और सोमरस काढने वाले के पास से मैं वह सोमरस पीता हूं और बुद्धिमान् यजमान की तरफ लक्ष्य रखता हूँ ॥ १८ ॥ १९ ॥

धन्वं च यत्कृंतत्रं च कातिस्वित्ता वि योजना ।

नेदीयसो वृषाकपेस्तमेहि गृहाँ उप विश्वं० ॥ २० ॥

इस ऋचा में इन्द्र वृषाकपिको अपने निज के घर जाकर फिर हमारे घर आओ इस प्रकार कहता है। अब यह प्रश्न है कि वृषाकपि और इन्द्र इन दोनों के घर हैं कहाँ। धन्व, कृंतत्रं और नेदीयस् इन शब्दों का सायणाचार्य ने निरुदक, व अरण्य रहित देश, कर्तनीय अरण्य (जिसमें वृक्ष तो उनके योग्य हैं ऐसा) वा अतिशयेन समीपस्थ [स्वगृह] ऐसा अर्थ दिया है। परन्तु यह बात पूर्वापर संदर्भ से जुड़ती नहीं। वृषाकपि सूर्य का कोई सा स्वरूप है। उसको अरण्य में जाकर क्या करना है। और वह अरण्य फिर कौनसा है। ऋ० १-३५-८ इसमें धन्व इस शब्द का अर्थ आकाश है यह सायणाचार्य ने दिया है। वह ही अर्थ यहां लेने से भी कोई हानि नहीं। उसको ही आगे कृंतत्रं अर्थात् तोडा हुआ ऐसा कहा है। इसके द्वारा यह आकाश का भाग अर्थात् दक्षिण गोलार्ध

उर्फ पितृयान है। 'यत्रावरोधनं दिवः' [ऋ० ९, ११३-८] इसमें आया हुआ अवरुद्ध आकाश वा यह धन्व कृंतत्रं यह एक ही हैं। दक्षिण गोलार्ध की पूरी जानकारी न होने के कारण वह धन्व कतिस्वित् (कुछ) योजन पर है ऐसा मोघम कहा है। अस्तु। इससे इतना निश्चय होता है कि इन्द्र ने वृषाकपि कों अपने घर अर्थात् दक्षिण गोलार्ध में जाने के लिये कहा।

अब दूसरे चरण का सरल अर्थ 'नेदीयससे' 'हमारे घर आ' यह होता है। इसमें नेदीयस शब्द के सम्बन्ध में गडबड हुई है। 'अन्तिकबाढयोर्नेद-साधौ'। इस पाणिनि के सूत्र में [५-३-६३] अन्तिकशब्द का ईयस् इष्ठ प्रत्यय से पूर्व नेद ऐसा आदेश हो जाता है ऐसा कहा है। परन्तु अन्तिक से नेद शब्द किसी भी प्रकार मिल नहीं सकता। अर्थात् नेदीयस् इस शब्द का मूल रूप जो नेद है वह पाणिनि के समय नहीं के बराबर हो गया था। परन्तु व्याकरणकार के नाते से पाणिनि ने सब शब्दों की व्यवस्था लगा देना यह कर्तव्य होने के कारण नेदीयस् शब्द का अन्तिक शब्द से सम्बन्ध जोडकर छुट्टी पाली ऐसा कहना पड़ता है। परन्तु ऐसा कहने से नेदीयस् इस शब्द का पाणिनि के समय 'समीपका' इसके सिवाय दूसरा कोई अर्थ नहीं था ऐसा मानने का कोई कारण नहीं। पाणिनि ने अपने समय में विशेष प्रचलित उसका अर्थ ले लिया होगा और उसका मूल रूप कुछ नहीं ऐसा देखकर उसही अर्थ वाले अन्तिक शब्द को ही उसका मूल रूप मान लिया होगा। कारण उसका उद्देश्य अर्थ सिद्ध न करने का होकर रूप सिद्ध करने का है। इंग्रेजी में (Nether) नेदर ऐसा एक शब्द है। और उसका नीचे का ऐसा अर्थ है। यह शब्द नेद इस शब्द के आगे अर यह तारतम्य दर्शक प्रत्यय लगाने से हुआ है। और वह लो-अर (Lower) इस शब्द के समान अर्थ वाला है। इस मूल शब्द से beneath [बिनीथ—खाली] under neath (अंडरनीथ) इत्यादि शब्द बने हैं। यह नेदर वा संस्कृत का

'नेदीयस्' शब्द दोनों ही 'नेद' इस एक ही मूल रूप शब्द से निकले हैं इस कारण नेदीयस् शब्द का अर्थ नीचे का ऐसा ही करना चाहिये। ऐसा अर्थ करने का दूसरा भी प्रमाण है। ऋग्वेद में और और स्थानों पर आये हुए 'नेदीयस्' वा 'नेदिष्ठ' शब्दों से यद्यपि इसका ऐसा अर्थ निश्चित नहीं किया जा सकता तथापि ब्राह्मण ग्रन्थों के कुछ स्थलों से यह इस प्रकार का निश्चित किया जा सकता है। ऐतरेय ब्राह्मण के (६-२७) 'उपरिष्टान्नेदीयसि' इस वाक्य में 'उपरिष्टात्' व 'नेदीयस्' इन दोनों शब्दों का विरोध दिखलाया गया है। उस ही प्रकार काठकसंहिता में 'नेदिष्ठादेव स्वर्गलोकमारोहति' अर्थात् 'नेदिष्ठ लोकों से स्वर्गलोक में आरोहण करता है' ऐसा वाक्य है। इस आरोहण शब्द से 'नेदिष्ठ' अर्थात् नीचे का लोक ऐसा अर्थ प्रकट दीखता है।

ताण्ड्य ब्राह्मण में भी 'यथा महावृक्षस्याग्रं सृप्त्वा नेदीयः संक्रमात् संक्रामस्येवमेतन्नेदीयःसंक्रमया नेदीयःसंक्रमात् संक्रामति। अर्थात् 'जिस प्रकार वृक्ष के अग्रभाग में धीरे धीरे जाने पर मनुष्य धीरे धीरे नीचे उतरता है उस ही प्रकार स्वर को धीरे धीरे ऊंचा करके फिर क्रम से नीचा करता है।' इस प्रकार का वाक्य आया है। इन सब स्थानों में 'नेदीयस्' शब्द का 'समीप का' ऐसा अर्थ सायणचार्य ने पाणिनिका अनुसरण करके किया है। परंतु ऊपर लिखे अनुसार पाणिनि का उद्देश्य अर्थ कहने का न होकर रूप सिद्ध करने का है। 'नेदीयस्' इस 'ईयस्' प्रत्ययान्त शब्द का मूलरूप कुछ नहीं मिला, तब 'अन्तिक' इस उसके समान अर्थ वाले शब्द को पाणिनिने उसका मूलरूप मान लिया। इस कारण 'नेदीयस्' इस शब्द का 'अन्तिक' अर्थात् 'समीप का' यह ही अर्थ पाणिनि के समय में था यह नहीं कहा जा सकता। अर्थात् इस शब्द का 'नीचे का' यह ही व्युत्पत्ति से निकलने वाला अर्थ लेना ही योग्य है। इसके सिवाय इस सूक्त में प्रति मन्त्र के अन्त में जो उत्तर शब्द आया है उसका तथा 'नेदीयस्' इस शब्द का विरोध इस रीति से अच्छा बैठता

है। इन्द्र का घर उत्तर की तरफ है। और 'वृषाकपि' नेदीयस् अर्थात् नीचे की तरफ जा रहा है। और इन्द्र उसको अपने घर फिर बुलाता है। यह इस सूक्त का मथित अर्थ है। शरत् संपात के समीप से सूर्य का नीचे की तरफ जाने का संभव होता है यह कल्पना बहुत प्राचीन है। ऐतरेय ब्राह्मण (४-१८) और तैत्तिरीय ब्राह्मण (१-५-१२-१) इन दोनों ग्रन्थों में संवत्सर सत्र में विषुवद्दिन में करने की विधि बतलाई गई है। उसमें "तस्य वै देवा आदित्यस्य स्वर्गाल्लोकादवपातादविभयुस्तं त्रिभिः स्वर्गैर्लोकैरवस्तात्प्रत्युत्तभ्नुवन् ।......तेषु (स्तोमेषु) हि वा एष एतदध्याहितस्तपति। स वा एष उत्तरोऽस्मात् सर्वस्माद् भूतात्० ।" ऐसा लिखा है। इसका अर्थ ये है कि सूर्य स्वर्गलोक से नीचे पड जायगा इस कारण देवता डरे और उनने नीचे से स्तोमों का सहारा दिया ।......इस प्रकार आधार मिलने पर वह सबसे उत्तर अर्थात् (ऊपर का) हो गया। ये स्तोम शरत्संपात के दिन अर्थात् विषुवद्दिन में दिया गया है। इन सब बातों से उपर लिखी हुई ऋचाओं में भी सूर्य का दक्षिण गोलार्ध में उतरने का वर्णन है। और इन्द्र वृषाकपि अर्थात् सूर्य को फिर अपनी तरफ अर्थात् उत्तर की तरफ बुलाता है यह अर्थ मालूम होता है।

अर्थ--वृषाकपे, तू आकाश के कृंतत्रं (तोड़े हुए) भाग में कुछ योजनों पर वर्तमान घर पर जा, और उस नीचे के घर से हमारे घर आ। इन्द्र विश्व के उत्तर भाग में है ॥ २० ॥

पुनरेहि वृषाकपे सुविता कल्पयावहै।
य एषः स्वप्ननंशनोऽस्तमेषि पथा पुनर्विश्व० ॥ २१ ॥

(वृषाकपि नीचे के लोकों में जाकर उसके फिर पीछा आने पर इन्द्र क्या करेगा यह इस ऋचा में कहा गया है।

अर्थ—हे वृषाकपे, निद्रा का नाश करनेवाला ऐसा जो तू अब घर

जाता है वह तू (उस ही) मार्ग से फिर आ। हम (फिर तेरे लिये) सवन कर्म करैं । इन्द्र इत्यादि ॥ २१ ॥

(शरत्संपात से दक्षिणायन शुरू होने पर यज्ञ कर्म बन्द हो गये। परन्तु फिर सूर्य जब उत्तर गोलार्ध में आवैगा अर्थात् वसन्तसंपात पर आवैगा तब यज्ञ शुरू होवेंगें। ऐसा तात्पर्यार्थ इस ऋचा का है।)

यदुदंचो वृषाकपे गृहमिन्द्रा जगंतन।
क्व१स्य पुल्वघो मृगः कमगज्जनयोपनो विश्वं० ॥ २२ ॥

यह ऋचा बड़े महत्व की है। वृषाकपि के पीछा आने पर क्या स्थिति होगी उसका इसमें वर्णन है। इन्द्राणी यह कहती है ऐसा समझने में कोई हानि नहीं ऐसा सायणाचार्य ने कहा है।)

अर्थ—(इन्द्राणी कहती है—)हे इन्द्र, वा वृषाकपे, तुम्हारे उत्तर की तरफ घर आने पर वह अति पापी वा लोगों को ठगनेवाला मृग कहां जायगा। इन्द्र विश्व के• ॥ २२ ॥

(इसमें मृग का [मृगः मार्ष्टेः गति कर्मणः] मृज—जाना इस धातु से मृग अर्थात् गमनशील अथवा सूर्य ऐसा अर्थ यास्क ने किया है। परंतु ऐसा अर्थ लेने से ऋचा का पूरा अर्थ बिलकुल नहीं मिलता है। कारण ये है कि वृषाकपि के उत्तर की तरफ जाने पर वह मृग दीखने से रह जाता है ऐसा इस ऋचा में स्पष्ट ही था। परंतु मृग अर्थात् सूर्य समझने पर वह उत्तर गोलार्ध में आकर अदृश्य कैसे हो जावै। इसके सिवाय इस सूक्त में वृषाकपि वा मृग अलग अलग हैं यह भी स्पष्ट हो गया है। इस कारण मृग अर्थात् मृगशीर्ष नक्षत्र है यह अर्थ लेना चाहिये और ऐसा अर्थ लेने पर सब बातें जैसी की तैसी मिल जाती हैं। शरत्संपात के समय सूर्यास्त के साथ-साथ मृग उगता हुआ होने के कारण दीखता था, प्ररंतु वसन्त संपात में सूर्य के आ जाने के कारण दोनों साथ साथ उगने लग

जाने के कारण मृग सूर्य के तेज से नहीं दीखने लगा। तात्पर्य ये है कि मृग-शीर्ष नक्षत्र पर वसन्त संपात था ऐसा मानने के सिवाय इस ऋचा का समाधान कारक अर्थ नहीं लगता। इसके सिवाय ऐसा अर्थ मानने से 'श्वान ऋभुको संवत्सर के अन्त में जगाता है। इस ऋग्वचन को भी प्रमाण मिलता है। वैदिक ऋषि सूर्य का नक्षत्रों में स्थान जानने के लिये उसके ऊगने से पहले कुछ समय पूर्व कौन सा नक्षत्र ऊगता है यह देखा करते थे[1]

प्रस्तुत ऋचा में वृषाकपि इन्द्र के घर गया अर्थात् उसका मृग कहीं पर दीखने से रह जाता है ऐसा कहा गया है। इससे स्पष्ट ही है कि वह दोनों ही उस दिन साथ साथ ऊगते थे। इसमें उदंच यह ही शब्द बड़े महत्त्व का है। इन्द्र के घर वृषाकपि गया अर्थात् वह उदंच रहता है और इन्द्र का घर आकाश के उत्तर भाग में है ऐसा इस सूक्त की प्रत्येक ऋचा में कहा गया है। अर्थात् इस ऋचा में वसन्त संपात में उर्फ देव-यान के किंवा इन्द्र के घर के द्वार में प्रविष्ट होनेवाले सूर्य की स्थिति का वर्णन है यह स्पष्ट जाना जाता है।)

पर्शुर्ह नाम मानवी साकं ससूव विंशतिम्।
भद्रं भलत्यस्या अभूद्यस्या उदरमामयद्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥२३॥

अर्थ—हे भल, मनु की कन्या पर्शु के एक ही बार २० पुत्र हुए। जिसका उदर इतना पुष्ट था उसका कल्याण हो। इन्द्र विश्व के उत्तर भाग में है।

---

१. 'यत्पुण्यं नक्षत्रं तद्बट् कुर्वीतोपव्युषम्। यदा वै सूर्य उदेति। अथ नक्षत्रं नैति। यावति तत्र सूर्यो गच्छेत्। यत्र जघन्यं पश्येत्। तावत् कुर्वीत तत्कारी स्यात्। पुण्याह एव कुरुते।

(इसमें बीस अर्थात् कदाचित् चौदहवीं ऋचा में कहे हुए बीस और पन्द्रह ऐसा अर्थ प्रकरण से लेना चाहिये। यह हरित मृग और दूसरे नक्षत्रों के जन्म देनेवाली का इन्द्र ने अन्त्य में कल्याणचिन्तन किया है।)

पुस्तक मिलने का पता—

(१) मैनेजर पण्डित प्रेस, संघी रोड जयपुर सिटी (राजपुताना)

(२) प्रबन्धकर्ता गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार (यू. पी.)

(३) प्रबंधकर्ता गंगापुस्तक-माला कार्यालय
अमीनाबाद पार्क लखनऊ यू. पी.

मुद्रक—जीतमल लूणिया सस्ता-साहित्य प्रेस, अजमेर।